ADHUNIK HINDI NATAKOM KI PRAMUKH PRAVRITTIYAN-EK ADHYAYAN

(1950 - 1975)

Thesis submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

G. JONIKUTTY

Supervising Teacher

Prof. (Dr.) A. RAMACHANDRA DEV
(Former Professor, Dept. of Hindi)

Professor and Head of the Dept.

Dr. P. V. VIJAYAN
(Dean, Faculty of Humanities)

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1992

C E R T I F I C A T E

This is to Certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by **G. JONIKUTTY** under my supervision for Ph.D. degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Kochi-22

Prof. (Dr.) A. RAMACHANDRA DEV
Supervising Teacher
Former Professor
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology

12 August 1992

A C K N O W L E D G E M E N T

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi-22 during the tenure of scholarship awarded to me by the University Grants Commission. I sincerely express my gratitude to the University Grants Commission and the Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

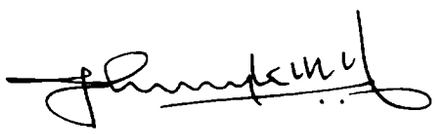

G. JONIKUTTY

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi 682 022

12 August 1992.

पुरोवाक्

शोध का क्षेत्र बडा विस्तृत है, विशेषकर हिन्दी में । हिन्दी का साहित्य इतना विशाल और वैविध्य पूर्ण है कि उसकी विविध शाखाओं में गहराई के साथ गवेषणात्मक कार्य करने की बडी आवश्यकता है । यद्यपि काफी संख्या में प्रतिवर्ष शोध प्रबंध विविध विश्वविधालयों में समर्पित किये जाते हैं तथापि कार्य अब भी बहुत करना बाकी है । आपेक्षिक दृष्टि से नाट्य के क्षेत्र में शोधकार्य कम हुए हैं । इसके अनेक कारण हो सकते हैं । कुछ विचारकों की दृष्टि में हिन्दी का नाट्य साहित्य उतना पुराना नहीं है जितना कि काव्य उपन्यास, कहानी आदि । परन्तु हमने अनुभव किया है कि हिन्दी का नाट्य साहित्य अत्यन्त विशाल एवं गौरवपूर्ण है । इस क्षेत्र में काम भी अच्छे बहुत हुए हैं । बडे बडे शोधकर्ताओं और अन्वेषकों ने नाट्य साहित्य के विभिन्न पार्श्वों का अनुसंधान किया है । प्रस्तुत शोध प्रबंध की प्रासंगिकता कुछ और है । अब तक जितने शोध दृष्टि में आये, प्रायः सब का लक्ष्य स्थूल ऐतिहासिक अथवा सामाजिक तथ्यों का अन्वेषण है । परन्तु नाटक में सामाजिक या ऐतिहासिक तथ्य ही सब कुछ नहीं है । भले ही सारी कलाएं मानव के जीवन व्यापारों से संबद्ध हैं और सब का लक्ष्य भी उसकी ह्लादिनी वृत्ति की परितृप्ति है तथापि उसमें कारणरूप वर्तमान प्रवृत्तियों का विश्लेषण अब तक के शोध कार्यों में नहीं पाया जाता । इस कारण हमने एक नयी सरणि ग्रहण की है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में हिन्दी नाट्य साहित्य के ऐतिहासिक विकास का समग्र विवरण नहीं दिया गया है क्योंकि इस सम्बध में काफी काम हो चुका है । हमारा कार्यक्षेत्र सीमित है । फिर भी हमने हिन्दी नाट्य के अभ्युदय और विकास की कहानी प्रवृत्तिपरक दृष्टि से प्रस्तुत की है प्रथम अध्याय में । उसका सम्बध वर्तमान नाट्य साहित्य से किस तरह जुडा हुआ है, यह भी दिखाया है ।

इस शोध प्रबंध की समय परिधि 1950 से लेकर 1975 तक है । इसके अनेक कारण हैं । सब से प्रमुख कारण यह है कि इसी समय परिधि में हिन्दी की अभिनव नाट्य प्रतिभा अपनी चरम बिंदू पर पहुँचती है और नाट्य साहित्य का केवल विषय वैविध्य के कारण ही नहीं बल्कि प्रयोगधर्मिता के वैचित्रय के कारण भी अपना महत्व है ।

शोध प्रबंध में सात अध्याय हैं । प्रथम अध्याय हिन्दी नाट्य साहित्य का सर्वेक्षण है । भारतेन्दु से लेकर अधुनातन नाटककार सुरेन्द्रवर्मा तक के नाटककारों की प्रमुख रचनाओं का प्रवृत्तिगत दृष्टि से विश्लेषण इसमें किया गया है । इनमें प्रमुख हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल आदि । नाटक के विकास में इन के कैसे योगदान रहे इसके सम्बध में भी विश्लेषण हुआ है ।

दूसरे अध्याय "युगीन प्रवृत्तियाँ" में आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रतिबिंबित प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । साहित्य की प्रवृत्तियों को रूपायित करने में युगजीवन की विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य है । इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हमने निरूपण किया है । इसके साथ ही साथ व्यक्ति और परिवेश, व्यक्ति और परिवार, नारीजागरण टूटते सम्बध, परंपरा और आधुनिकता का संघर्ष आदि का भी विवेचन है ।

तीसरे अध्याय "विसंगति-बोध" में द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न विसंगतिबोध का विश्लेषण है । इसमें विसंगतिबोध और साहित्य, विसंगतिबोध और भारतीय परिस्थिति आदि विषयों पर मौलिक चिंतन है । हमने 1950 के बाद लिखे गये प्रमुख नाटकों का विश्लेषण विसंगतिबोध की दृष्टि से किया है । स्थापना यह है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के अधिकांश चरित्र विसंगति के शिकार हैं ।

"स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया अयाम" चौथा अध्याय है । आधुनिक जीवन में वैज्ञानिक उन्नति और नागरिक जीवन की यांत्रिकता के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष सम्बधों में अतृप्ति, कलह, स्वार्थलिप्सा, असन्तोष आदि प्रकट होने लगे हैं । उनके सम्बधों में पुरानी समर्पण की भावना नहीं हैं । नये वातावरण में उनका जीवन केवल दिखावा मात्र रह गया है । अधुनातन नाटककारों के प्रतिनिधि रचनाओं में स्त्री-पुरुष सम्बधों की इसी शिथिलता का जो अंकन हुआ है, उसका हमने इस अध्याय में आलोचन किया है ।

पाँचवाँ अध्याय "भ्रष्टाचार" में आधुनिक युग के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं शिक्षा के क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार का विश्लेषण है ।

छठा अध्याय है "इतिहास-पुराण या मिथक का नया भावबोध" । हिन्दी नाटक की अधुनातन प्रवृत्ति है इतिहास-पुराण या मिथक के माध्यम से समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति । 1950 के बाद इस दिशा में बहुत से नाटक लिखे गये । जगदीश चन्द्र माथुर का नाटक "पहला राजा", धर्मवीर भारती का "अंधायुग", दुष्यन्तकुमार का "एक कंठविषपाई", लक्ष्मीनारायण लाल का "मिस्टर अभिमन्यु", "सूर्यमुख", "कलंकी" शंकर शेष का एक और द्रोणाचार्य प्रभृति इनमें प्रमुख हैं । इस अध्याय में इन नाटकों में प्रतिध्वनित नया भावबोध निरूपित किया गया है

सातवाँ अध्याय "रंगमंच" में हिन्दी नाटक की अधुनातन रंगमंचीय प्रवृत्तियों का विशेषण है । इसकी विकास यात्रा में परंपरा का पालन अवश्य रहा है । इसकेलिए भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नाटककारों का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस अध्याय में हमारा निष्कर्ष यही है कि आधुनिक रंगमंच में विभिन्न परंपराओं का पालन अवश्य है ।

कोचिन विश्वविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य प्रोफसर डॉ. ए. रामचन्द्र देवजी के पाँडित्यपूर्ण निर्देशन में इस शोध प्रबंध की पूर्ति हुई है । उनके अमूल्य निर्देश तथा सुस्पष्ट सुझाव मेरे पथ को प्रशस्त करने में अधिक सहायक रहे । उनके स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन से ही इस शोध प्रबंध का कार्य इतनी जल्दी पूरा हो गया है । समय समय पर उन्होंने मेरी हिम्मत बढा दी हैं । उनका यह ऋण मैं कभी नहीं चुका पाऊँगा और चुकाना भी नहीं चाहता । उस ऋण में रहना एक सुखद अनुभव है ।

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो. डा. विजयनजी के प्रति मैं बहुत आभारी हूँ । वे मुझे इस शोध कार्य की पूर्ति केलिए आवश्यक सहायता देते रहे हैं ।

विभाग के प्रो. डॉ. एम. ईश्वरी, प्रो. डॉ. ए. अरविन्दाक्षन और प्रो. डॉ. षेमीम पी. अलियार के प्रति भी में आभारी हूँ । इन्होंने मेरे इस प्रयत्न में काफी सुझाव दिये हैं ।

महाराजास कालेज एरणाकुलम के प्राध्यापक डॉ. एन. मोहनन का मैं इस समय स्मरण करता हूँ । वे भी मेरे इस प्रयत्न में सहायक रहे हैं ।

पत्तनंतिट्टा कातोलिक्केट कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डॉ. टी. ए. जोर और वर्तमान प्रिंसिपल प्रो. वी. ऐ जोसफ के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञपित करता हूँ । वहाँ के हिन्दी विभाग के गुरूजनों और प्रिय मित्रों ने मुझे समय समय पर प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दिये हैं । यह शोध प्रबंध उन गुरूजनों और मित्रों के आशीर्वाद के परिणाम भी हैं ।

पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती कुंजिक्कावुट्टि तंपुरान और सहायक पी. ओ. आंटणी के प्रति मैं बहुत आभारी हूँ । अपने इस शोधकार्य की सफलतापूर्ण

समाप्ति केलिए दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरु यूनिवर्सिट्टी, स्कूल आफ ड्रामा, दिल्ली, संगीतनाटक अकादमी दिल्ली, केरला हिन्दी प्रचार सभा, तिरुवनन्तपुरम आदि संस्थाओं के ग्रंथालयों की सहायता अत्यन्त महत्वपूर्ण रही ।

इस अवसर पर मैं अपने परम पूज्य पिता स्व. श्री. गीवर्गीस की स्मृति के समक्ष श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ जो मेरे प्रत्येक कर्म के प्रेरणास्रोत रहे हैं ।

कोचि - 682 022

12 अगस्त 1992.

जी. जोणिक्कुट्टि

अनुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय - 1 - 46

आधुनिक हिन्दी नाटक एक सर्वेक्षण

नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - अनूदित नाटक - रत्नावली - पाखण्ड विडम्बन - रूपान्तरित नाटक विद्यासुन्दर - धनंजय विजय - कर्पूर मंजरी - मुद्राराक्षस - भारतेन्दु के मौलिक नाटक - वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति - प्रेमयोगिनी - सत्य हरिश्चन्द्र - विषस्यविषमौषधम श्री चन्द्रावली - भारत जननी - नीलदेवी - अंधेर नगरी - सती प्रताप - भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार - जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के नाटक-प्रमुख प्रवृत्तियाँ - सज्जन - कल्याणी परिणय - करुणालय - प्रायश्चित - राज्यश्री - विशाख - अजात शत्रु - जनमेजय का नागयज्ञ - कामना - स्कन्दगुप्त - एक घूँट - चन्द्रगुप्त - ध्रुवस्वामिनी - प्रसादोत्तर नाटक - समस्या नाटक - लक्ष्मीनारायण मिश्र - सन्यासी - राक्षस का मंदिर - मुक्ति का रहस्य - राजयोग - आधीरात - हरिकृष्ण प्रेमी - उपेन्द्रनाथ अश्क - जयपराजय - स्वर्ग की झलक - कैद और उडान - अलग अलग रास्ते - अंजोदीदी - भुवनेश्वर प्रसाद - ताँबे के कीडे - ऊसर - स्ट्रइक - जगदीशचन्द्र माथुर - कोणार्क - पहला राजा - मोहन राकेश - आषाढ का एक दिन - लहरों के राजहंस - पैर तले की ज़मीन - लक्ष्मीनारायण लाल - सूर्यमुख - कलंकी - रमेशबक्षी - देवयानी का कहना - मुद्राराक्षस - तिलचट्ठा - तेंदुआ - धर्मवीर भारती - अंधायुग - सुरेन्द्रवर्मा - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक ।

पृष्ठ-संख्या

दूसरा अध्याय - 47 - 73

युग की प्रवृत्तियाँ

समाजिक परिवेश - राजनैतिक परिवेश - व्यक्ति और परिवेश - व्यक्ति और परिवार - घुटन भरा जीवन - नारी जागरण - टूटते सम्बध - परंपरा और आधुनिकता का संघर्ष - आधुनिक परिवेश और अन्य साहित्यिक विधाएँ - कविता - कहानी - नयी कहानी - उपन्यास - हिन्दी नाटक - विसंगतिबोध - स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया आयाम - इतिहास पुराण का नया भाव-बोध - भ्रष्टाचार - भ्रष्ट राजनीतिक विडम्बना - नये प्रतीक - गीतिनाट्यशैली ।

तीसरा अध्याय - 74 - 111

विसंगति-बोध

युद्धोत्तर साहित्य - पश्चिमी प्रभाव - आलबेर कामू - यूजीन अयेनेस्को - विसंगतिबोध और साहित्य - भारतपर प्रभाव - विसंगतिबोध और भारतीय परिस्थिति - हिन्दी नाटक - भुवनेश्वर प्रसाद - जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक और विसंगति-बोध - कोणार्क - पहला राजा - विसंगतिबोध आषाढ का एक दिन में - लहरों के राजहंस - आधे-अधूरे - धर्मवीर भारती - अंधायुग और विसंगतिबोध - लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में विसंगतिबोध - मिस्टर अभिमन्यु - मुद्राराक्षस के नाटकों में विसंगतिबोध - तिलचट्ठा, तेंन्दुआ - योअर्स फेथफुली - मरजीवा - सुरेन्द्रवर्मा - सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक ।

पृष्ठ-संख्या

चौथा अध्याय - 112 - 146

स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया आयाम

स्त्री की सामाजिक स्थिति - नारी जागरण - मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बध - प्रेम की विडम्बना - लहरों के राजहंस - आधे - अधेरे - लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बध - रात-रानी - करफ्यू - सूर्यमुख - मादा कैक्टस - रमेश बक्षी के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बध - देवयानी का कहना है - मन्नु भण्डारी के नाटक और स्त्री-पुरुष सम्बध - बिना दीवारों के घर - पशुप्रतीक और स्त्री-पुरुष सम्बध - तिलचट्ठा - तेन्दुआ - सुरेन्द्रवर्मा के नाटक और स्त्री-पुरुष सम्बध - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक ।

पाँचवाँ अध्याय - 147 - 170

भ्रष्टाचार

परिभाषा एवं व्याख्या - पहला राजा - मिस्टर अभिमन्यु - कलंकी - पशु प्रतीक के द्वारा भ्रष्ट राजनीति का चित्रण - शुतुरमुर्ग बकरी - सिंहासन खाली है - अब्दुल्ला दीवान - मरजीवा - शासन के क्षेत्र में भ्रष्टाचार - पुअर्स पेथफुली - यौन भ्रष्टाचार - आधे अधूरे - कर्फ्यू - मादा कैक्टस - देवयानी का कहना है - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - तेंदुआ - तिलचट्ठा - एक और द्रोणाचार्य ।

पृष्ठ-संख्या

छठा अध्याय - 171 - 198

इतिहास-पुराण या मिथक का नया भावबोध

परिभाषा एवं व्याख्या - जगदीश चन्द्र माथुर - कोणार्क - पहला राजा - मिथक तथा आधुनिक भावबोध - मोहन राकेश - आषाढ का एक दिन - लहरों के राजहंस - लक्ष्मीनारायण लाल - सूर्यमुख - कलंकी - मिस्टर अभिमन्यु - धर्मवीर भारती - अंधायुग - दुष्यन्द कुमार - एक कंठविषपाई - सुरेन्द्रवर्मा - द्रौपदी ।

सातवाँ अध्याय - 199 - 245

रंगमंच

नाटक और रंगमंच - भारतेन्दु के नाटक और रंगमंच - पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक - प्रसाद और उनकी रंगदृष्टि - समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - जगदीशचन्द्र माथुर - कोणार्क - पहला राजा - मोहन राकेश - आषाढ का एक दिन - लहरों के राजहंस आधे-अधूरे - लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच - कर्फ्यू - सूर्यमुख - कलंकी - रंगमंच के विकास में धर्मवीर भारती का योगदान - अंधायुग - सुरेन्द्रवर्मा - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरन तक - आठवाँ सर्ग - द्रौपदी - रमेश बक्षी - देवयानी का कहना ।

उपसंहार - 246 - 250

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची - 251 - 267

×××××××

पहला अध्याय

आधुनिक हिन्दी नाटक एक सर्वेक्षण

आधुनिक हिन्दी नाटक एक सर्वेक्षण

हिन्दी साहित्य में नाटकों की शुरुआत दरअसल भारतेन्दु युग से होती है । इसका मतलब यह नहीं कि नाटक भारतेन्दु युग में एकदम फूट निकला हुआ हो । उसकी अपनी एक परंपरा है, चाहे वह दुर्बल हो, फिर भी । हम उसका निषेध नहीं कर सकते । क्योंकि सत्रहवीं, अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ पद्य बद्ध नाटकों की रचना हो चुकी थी । रामायण नाटक, हनुमन्नाटक, समयसार नाटक तथा प्रबोध चन्द्रोदय आदि खास तौर पर उल्लेखनीय है । इन नाटकों की अपनी कमियाँ भी हैं । एक ओर वे पद्यबद्ध हैं दूसरी ओर इनमें अभिनेयता का तथा नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव है ।[1]

नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बीसवीं शताब्दी सचमुच हिन्दी नाटक साहित्य केलिए नवोन्मेष का युग अवश्य था । इसलिए कि आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य पर विचार करते समय सब से पहले हमारा ध्यान युगप्रवर्तक भारतेन्दु की ओर जाता है । बीसवीं सदी के हिन्दी नाटकों की चर्चा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोडकर नहीं की जा सकती क्योंकि भारतेन्दु का नाटककार - व्यक्तित्व एक ऐसी बुनियादि ज़मीन तैयार करता है जिसके ऊपर बीसवीं सदी के हिन्दी नाटक और रंगमंच की - इमारत देखी जा सकती है ।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ: 432.
2. हिन्दी वाड़मय - बीसवीं शती - डॉ. नगेन्द्र - पृ: 139.

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य का उदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है । भारतेन्दु का समय - (सन् 1850-1885)[1] हिन्दी नाट्य साहित्य के नवोत्थान का समय था । उन्होंने नाटक के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया । भारतेन्दु ने तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप प्राचीन परंपरा और संस्कृत नाट्य शिल्प के आधार पर अपने नाटकों की रचना की । उस समय भारत का वर्तमान बिलकुल दयनीय था । विदेशी शासन सत्ता के भीतर भारतीय जनता पिस रही थी । ऐसे सन्दर्भ में भारतेन्दु ने महसूस किया कि देश तथा जनता के वर्तमान को बदलने केलिए अपनी ओर से कुछ करना अनिवार्य हो गया है । अतः उन्होंने साहित्य को अपना माध्यम बना लिया, खासकर नाटक को । नाटक ही एकमात्र साहित्यिक शाखा है जिसका आस्वादन शिक्षित अशिक्षित दोनों समान रूप से कर सकते हैं । इसप्रकार भारतेन्दु ने साहित्य के माध्यम से देश तथा जनता को मुक्त करने के संघर्ष में सक्रिय सहयोग दिया । उन्होंने मौलिक एवं अनूदित नाटकों की रचना करके जनमानस को आन्दोलित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया । साथ ही साथ हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध एवं समर्थ बनाने का भी ।

भारतेन्दु के जितने मौलिक और अनूदित नाटक हैं, सब राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावना से ओत-प्रोत हैं । "उन्होंने अपने नाटकों में राजनैतिक चेतना का समावेश कर सोई हुई जाति को उद्बुद्ध किया ।"[2] भारतेन्दु ने नाट्य रचना केलिए अधिकतर युगीन सन्दर्भ को चुना और उसे एक नये नाट्य विधान में ढालने का प्रयास किया । उन्होंने संस्कृत और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों के व्यावहारिक प्रयोग का लक्ष्य निर्वाह किया । "वे और उनके सहयोगी एक ऐसी नाट्य परंपरा को ही जन्म दे पाये जिसमें संस्कृत, पाश्चात्य, पारसी तथा लोकनाट्य पद्धतियों का

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - ब्रजरत्नदास - पृः 63 और 123.
2. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (एकादश भाग) - सम्पादक सावित्री सिनहा, दशरथ ओझा प्रभृति; हिन्दी नाटक एक मुल्यांकन - गोविन्द चातक - पृः 352.

समन्वय ही मुख्य था, जिसकेलिए उनका योग सराहनीय ही कहा जाएगा ।"[1] वे अपने नाटकों में न संस्कृत नाटकों की काव्यमयी आत्मा का समाहार कर सके और न पाश्चात्य नाटकों जैसी चरित्र सृष्टि और वस्तुशिल्प तक की गहराई में पहुँच सके । इन दोनों से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया ।

भारतेन्दु ने पौराणिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय,प्रेमप्रधान, समस्या प्रधान सभी प्रकार के नाटकों की रचना की है । वे हैं - विद्यासुन्दर, रत्नावली (1868 ई.) पाखण्ड विडम्बन (1872), "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवीत", "धनंजय विजय" (1873), प्रेमयोगिनी (1875), "सत्य हरिश्चन्द्र" तथा "मुद्राराक्षस" (1875) , "कर्पूर मंजरी", "विषस्यविषमौषधम", "श्रीचन्द्रावली" तथा "भारत दुर्दशा" (1876) , "भारत जननी" (1877) , "नीलदेवी" (1881) "दुर्बल बंधु" (1880) , "अंधेर नगरी" (1881) और "सती प्रताप" (1883)[2]

उक्त नाट्यकृतियों में "रत्नावली", "धनंजयविजय", "पाखण्ड विडम्बन" तथा मुद्राराक्षस संस्कृत से और कर्पूर मंजरी प्राकृत से एवं "दुर्बल बन्धु" अंग्रेज़ी से अनूदित हैं । विद्यासुन्दर भारतेन्दु की रूपान्तरित रचना है शेष रचनाएं मौलिक हैं ।[3]

रत्नावली

इसका अनुवाद प्रायः मूल नाटक के अनुसार गद्य और पद्य में है । भारतेन्दु ने बडी सावधानी से मूल के ही आशय को लेकर उसमें मौलिक शैली का समावेश किया है यह विशेषता उनके और गीतों में भी मिलती है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास - हिन्दी नाटक एक मूल्यांकन - गोविन्द चातक - पृः 352.
2. भारतेन्दु के प्रमुख नाटक - डा. सत्येन्द्र कुमार सिंह - पृः 37.
3. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृः 23.

पाखण्ड विडम्बन

यह कृष्णमिश्र कृत संस्कृत नाटक "प्रबोध चन्द्रोदय" के तीसरे अंक का अनुवाद है । अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि वह अपने में पूर्ण एक स्वतंत्र एकांकी नाटक प्रतीत होता है । इसमें भावों का द्वन्द्व बडे मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित हुआ है, जिसपर लेखक की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है ।

अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है । उनका "दुर्बल बन्धु" शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का अनुवाद है । इसमें कथा को भारतीय आवरण देने के साथ-साथ पात्रों का भी भारतीयकरण किया गया है । भारतेन्दु ने पश्चिमी नाट्य प्रणाली का भारतीय वातावरण में नवीन प्रयोग किया है, जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है ।[1]

स्थान्तरित नाटक विद्यासुन्दर

"विद्यासुन्दर" भारतेन्दु की स्थान्तरित रचना है । यह बंगला के प्रसिद्ध नाटक "विद्यासुन्दर" की छाया लेकर निर्मित है ।[2] एक प्रेमप्रधान नाटक है यह । वर्द्धमान की राजकुमारी विद्या के काँचीपुर के राजकुमार सुन्दर से विवाद की रोचक कथा इसमें वर्णित है । तीन अंकों में नाटक की कथा का विकास होता है । दृश्यविधान पाश्चात्य ढंग का है । न नांदी पाठ, न प्रस्तावना , न ही भरत वाक्य ।

---

1. भारतेन्दु का नाटय साहित्य - डॉ. वीरेन्द्र शुक्ल - पृः 159.
2. हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृः 24.

"विद्यासुन्दर" में एक सन्देश निहित है । हीरामलिन और विद्या यहाँ दो विचारधाराएँ प्रवाहित हैं । हीरामलिन परंपरागत हिन्दू विचार की समर्थक है कि माँ-बाप ही पुत्री केलिए वर की तलाश करें । इसके विपरीत विद्या नवीन विचारधारा का समर्थन करती है कि लडकी और लडका स्वयं पहले एक दूसरे को पसंद कर लें । इस से प्रकट है कि भारतेन्दु ने आधुनिक युग विचार - बिना लडकी देखे शादी नहीं की जाय - को व्यक्त किया है । नाटक व्यक्ति स्वातंत्रय का समर्थन करता है ।

धनंजय विजय

"धनंजय विजय" का मूल लेखक कांचन कवि माना जाता है । भारतेन्दु ने पद्य की शैली पर अपना एक छाप लगाई है । अपने अज्ञातवास के सिल-सिले में पाँडवों ने राजा विराट के यहाँ एक साल बिताया था । अज्ञातवास के अंतिम दिनों में कौरवों ने विराट की गायें हर लीं । अकेले अर्जुन उन्हें पराजित करके गायें छुडा लाए । राजा ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर दिया । एक ही दिन की इस कथा का वर्णन एक ही अंक में किया गया है । इसमें मंगलाचरण, भरत-वाक्य आदि विद्यमान हैं ।

कर्पूर मंजरी (1876)

इसका मूल लेखक राजा शेखर हैं । भाषा प्राकृत है । चार अंकों में विभक्त है । प्राचीन काव्य लक्षणों का इसमें निर्वाह हुआ है । भारतेन्दु ने अपने अनुवाद में इसे हास्य एवं श्रृंगार प्रधान बना लिया है । श्रृंगार प्रधान प्रसंगों में भारतेन्दु ने स्वरचित कविताओं का प्रयोग भी किया है ।

मुद्राराक्षस - 1875[1]

संस्कृत के नाटककार विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" एक राजनैतिक नाटक है । नंदवंश के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस ने अपने स्वामी को छोडकर चन्द्र-गुप्त का मंत्रिपद ग्रहण किया । इस परिस्थिति का इस नाटक में वर्णन है । भारतेन्दु ने अत्यन्त मनोरमशैली में इसका अनुवाद हिन्दी में किया है ।

भारतेन्दु की नाट्य रचना का वस्तुतःआरंभ अनुवादों के द्वारा ही हुआ । अनुवादों में उन्हें संपूर्ण सफल्ता प्राप्त हुई । अनुवाद की यह प्रक्रिया उनकी नाट्य कला के विकास में अवश्य सहायक रही है । इसीलिए इन अनूदित नाटकों का उतना ही महत्व माना जाना चाहिए, जितना कि मौलिक रचनाओं का ।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति {1873}

यह प्रहसन है । इसके चार अंक हैं इसलिए संस्कृत के प्रहसन के शिल्प का रूप इसमें नहीं है । इसका लक्ष्य तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के विकृत पक्षों की आलोचना करना है । पात्रों के ज़रिए समाज में प्रचलित स्वार्थ एवं दुराचार की कटु आलोचना भारतेन्दु ने की है । राजा, मंत्री, पुरोहित भट्टाचार्य तथा गंडकीदास अज्ञान एवं स्वार्थ के पोषक दुराचारी पात्र हैं ।[2] इसका हर एक पात्र विशेष प्रवृत्तियों का प्रतीक है । इसीलिए पात्रों के चारित्रिक विकास का सम्यक निर्वाह नहीं हुआ है ।

---

1. व्रजरत्नदास ने सन 1874 रचना तिथि दी है ।

2. भारतेन्दु के नाटक - डॉ. भानुदेव शुक्ल - पृ: 35.

भारतेन्दु की राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का दर्शन इसमें है । भारतीय एवं पश्चिमी नाट्य शैलियों के समन्वित रूप इसमें प्राप्त होता है । भारतेन्दु की समाजिक दृष्टि इसमें व्यक्त की गई है । परंपरागत नाट्य शिल्प से मुक्त होने की प्रवृत्ति भी मिलती है ।

प्रेमयोगिनी (1875)

समाज सुधार को लक्ष्य कर लिखी गयी नाटिका है । प्रथम संस्करण में इसका नाम "काशी के छायाचित्र था ।"[1] बाद में इसे प्रेमयोगिनी नाम दिया गया । इसमें धर्म की आड में दुराचार करनेवाले मिथ्याचारी पाखंडियों की खिल्ली उडायी गयी है । समाज में प्रचलित मांस भक्षण, मदिरापान एवं पर-स्त्री-गमन आदि दुराचारों की कटु आलोचना है । काशी नगर में धर्म के नाम पर होनेवाले पाखण्डों, व्यसनों एवं अनर्थों का बडी निर्भीकता से उद्घाटन किया गया है ।[2]

इन विशेषताओं के होते हुए भी कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से नाटिका अविकसित एवं नाट्य कौशल विहीन है । रंगमंच की दृष्टि से भी असफल है । कोई नारी पात्र इसमें नहीं है । "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का स्वर ही इसमें गूँज रहा है । हिन्दी की यथार्थवादी साहित्य परंपरा का प्रारंभिक रूप इसमें मिलता है ।

---

1. काशी के छायाचित्र या दो भलेबुरे फोटोग्राफ नाम से प्रथम स. "हरिश्चन्द्र चान्द्रिका सन 1876 में छपना आरंभ हुआ था - भारतेन्दु ग्रंथावली - व्रजरत्नदास - प्रेमयोगिनी नाटिका से ।
2. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृ: 26-27.

सत्य हरिश्चन्द्र {1875}

यह भारतेन्दु की सर्वोत्कृष्ट रचना है । कथानक पौराणिक है, इसमें सत्य की अत्यान्तिक विजय की गाथा गयी जाती है । इसकी पात्र सृष्टि अत्यन्त मनोयोगपूर्वक की गयी है । घटनाक्रम का विकास बहुत ही स्वाभाविक है । समीक्षकों ने इस कृति की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।[1] इसका कथ्य "चंडकौशिक" पर आधृत है । इसमें हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा चार अंकों में वर्णित है । चंडकौशिक से अवश्य कुछ श्लोक इसमें उद्धृत हैं पर नाटक समग्रतः भारतेन्दु की निजी कल्पना से प्रसूत है । प्राचीन परिपाटियों का परिपालन होते हुए भी इसमें नवीन दृष्टि लक्षित होती है । नांदी और भरतवाक्य के बावजूद स्वर नाटक का आधुनिक है । संपूर्ण नाटक में वीर {सत्यवीर और दानवीर} रस की अभिव्यक्ति है ।

विषस्य विषमौषधम् {1876}

यह भाण शैली में लिखा गया प्रहसन है । कथावस्तु का न तो कोई सुनिश्चित स्वरूप है और न कोई विकासक्रम । "अनाटकीय कथावस्तु तथा चमत्कारहीन संवाद और रस परिपाक के अभाव के कारण उक्त भाण रूपक कला की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है । इसे नाटक न कटकर यदि एक राजनीतिक घटना का रेखाचित्र-मूलक वक्तव्य कहा जाय तो उपयुक्त होगा ।"[2]

---

1. {क} आधुनिक हिन्दी साहित्य - डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वितीय सं. - पृ:23।
   {ख} भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - व्रजरत्नदास - पृ: 158 तृतीय संस्करण ।
2. भारतेन्दु का नाटक साहित्य - डॉ. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल - पृ: 191.

इसमें देशी राजाओं के अनाचार एवं चारित्रिक दुर्बलताओं पर तीखा व्यग्य किया गया है । बडौदा नरेश मलहार राव के पतन को दिखा कर नाटककार ने देशी राजाओं को चेतावनी दी है कि अग्रेज़ों की कृपा पर अवलंबित रहना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं ।

श्री चन्द्रावली (1876)

विरह और मिलन की भावात्मक स्थिति पर इस नाटिका की वस्तुयोजना की गयी है । इसमें प्रेम का जो प्रतिपादन है वह केवल व्यक्ति निष्ठ न होकर विश्व चेतना को अपने में समा लेता है ।

राधा के पश्चात कृष्णप्रेमी गोपिकाओं में चन्द्रावली का नाम प्रमुख है । वह श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमिका और आराधिका है । कृष्ण-वियोग से तडपती है । नाटिका के अधिकांश भाग में चन्द्रावली के विरह की प्रगाढता वर्णित है । मधुर भक्ति के सहारे अन्त में वह अपने प्रियतम से मिल जाती है ।

भारतेन्दु ने अपनी पुष्टिमार्गीय प्रेम-भक्ति को प्रतिपादित करने केलिए ही इस नाटिका की रचना की है । नाटिका के "समर्पण" में लेखक ने व्यक्त कर दिया है - "इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है ।"[1]

भारत-दुर्दशा (1876)

यह नाटक अनेक कारणों से भारतेन्दु की रचनाओं में अपना अलग स्थान रखता है । एक सच्चे कलाकार की भाँति लेखक की दृष्टि अपने आस पास के समाज पर पडती है और उस से प्रभाव ग्रहण करके ही उनकी लेखनी क्रियाशील होती है

---

1. भारतेन्दु नाटकावली - प्रथम भाग - सम्पादक ब्रजरत्नदास - पृ: 253.

वह ज़माना अंग्रेज़ों के शासन का था । विदेशी शासक जनजीवन की समस्याओं पर ध्यान बिलकुल नहीं देते थे । जनता गरीबी और अकाल से पीडित थी । उनकी विपन्नता से अप्रभावित रहना भारतेन्दु जैसे हृदयालु लेखक के लिए संभव न था । उसका ज्वलंत प्रमाण है भारत-दुर्दशा ।

भारतेन्दु की उन्मुक्त राष्ट्रीय भावना का यथार्थ स्वरूप इसमें दर्शनीय है ।[1] देश की दुर्दशा के वास्तविक कारणों का अनावरण है इसमें । उनका निष्कर्ष है कि देश के पतन का मूल कारण देशवासियों का पारस्परिक कलह है ।

"भारत दुर्दशा" में पात्रों की कल्पना प्रतीकात्मक ढंग से की गयी है । भारत, भारत दुर्देव, निर्लज्जता, आशा, सत्यनाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि इसके पात्र हैं । व्यग्यात्मक प्रयोगों की भरमार है । समाज, धर्म, शासन, कायर सुधारक आदि सभी पर व्यग्य के कठोर प्रहार हुए हैं । रचनाकार का क्षोभ और नैराश्य संपूर्ण रूप में इसमें व्यक्त है ।

लेखक बाल विवाह का विरोध करते हैं और विधवा विवाह का समर्थन । उनकी दृष्टि में विधवा विवाह का विरोध व्यभिचार को बढावा देता है । रूपक में वस्तु की आधारशिला बहुत हल्की जान पडती है । इसकी भाषा सरल तथा सशक्त है, पात्रानुकूल तथा रंगमंचीय । नाटक दुःखान्त है । चरित्र-चित्रण का कोई विशेष महत्व नहीं । सामाजिक, राजनैतिक विकृतियों को दूर करना ही लेखक का इसमें लक्ष्य है ।

भारत जननी {1877}

भारत दुर्दशा की भाँति इसमें भी पराधीन भारतीयों की तत्कालीन दयनीय अवस्था का मार्मिक चित्र है ।[2] नाटक राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है । इसका स्वर एकता का है ।

---

1. भारतेन्दु के प्रमुख नाटक - डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह - पृः 50.
2. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - पृः 27.

नीलदेवी {1881}

यह गीतिरूपक प्रणाली का प्रयोग है । इसके वस्तु संगठन एवं घटना विकास पर पाश्चात्य प्रभाव है । दस दृश्यों के इस ऐतिहासिक नाटक में लेखक दीन-हीन तथा परतंत्र नारी जाति को स्वतंत्र, निर्भीक एवं पुरुषों की सहयोगिनी के रूप में व्यवहार करने का सन्देश देते हैं । परंतु उनकी यह कामना कभी नहीं थी कि - "इन गौरंगी - युवति समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजयी देकर अपने पति के साथ घूमें ।"[1]

नीलदेवी दुःखान्त नाटक है । किन्तु यह पश्चिमी ट्रैजेडी के समान नहीं है । दया और भय उत्पन्न करने के स्थान पर इसमें करुणा संवेदना और श्रद्धा के भाव उद्दीप्त किये गए हैं । इसमें मुसलमानों की बर्बरता के विपरीत राजपूती शैर्य का प्रतिपादन भी मिलता है । इसमें राष्ट्र-प्रेम है, राष्ट्र अवनीत के सम्बध में विह्वलता भी ।

अंधेर नगरी {1881}

"अंधेर नगरी" व्यंग्य प्रधान प्रहसन है । इसमें बिहार के किसी दुराचारी सामन्त की शासकीय अव्यवस्था तथा न्यायप्रथा पर चोट की गयी है । संपूर्ण नाटक में समाज में व्याप्त मुर्खता, अधर्म एवं अन्याय का वर्णन है । इसके द्वारा नाटककार ने यह स्थापित किया है कि चुपचाप बेबसी पर आँसू बहाकर ज़िन्दा रहना जीना नहीं है । "जहाँ न धर्म है, न बुद्धि है, न नीति है, न सुजन से भरा समाज है, वे अपने ही आप बर्बाद होते हैं"[2] इसमें कलात्मक एवं साहित्यिक चारुता का अन्वेषण करना व्यर्थ है ।

---

1. भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग - व्रजरत्नदास - पृ: 421.
2. भारतेन्दु के प्रमुख नाटक - डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह - पृ: 74.

सती प्रताप (1883)

यह पौराणिक आख्यान पर आधारित है । इसके वर्तमान रूप में सात दृश्य हैं परन्तु भारतेन्दु इनमें से केवल चार ही लिख पाये । बाबू राधाकृष्ण दास ने इसके शेष अंकों को पूरा किया है । सावित्री के सतीत्व की गरिमा को प्रस्तुत करते हुए नाटककार ने भारतीय नारी के आदर्श को व्यक्त किया है । नारी आदर्श की स्थापना ही नाटककार का उद्देश्य है । "भारतेन्दु ने पराधीन तथा अंधविश्वासों से ग्रस्त दुर्बल नारी के स्थान पर स्वाधीन, सशक्त तथा कर्तव्यपरायण नारी का भारतीय आदर्शानुकूल स्वरूप प्रस्तुत किया है ।"[1]

"सती प्रताप" की शैली संस्कृत की है । गीतों का इसमें बाहुल्य है किन्तु वे कथानक के विकास में बाधक नहीं होते ।

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी नाटक के जनक कहे जा सकते हैं । उनके अधिकांश नाटक विषय और रचना शैली की दृष्टि से नवीन हैं । उनके नाटकों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के नवीन भारत के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का वास्तविक स्वर प्रतिध्वनित है । उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्य-पद्धति में से आवश्यक और उपयुक्त तत्व ग्रहण कर हिन्दी के नवीन नाट्य-धर्म की स्थापना की ।[2] भारतेन्दु ने मुख्य रूप से पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं सामाजिक नाटकों की सृष्टि की है । संस्कृत एवं अंग्रेज़ी नाटकों का अनुवाद कर उन्होंने अनूदित नाटकों की परंपरा को आगे बढाया । उनके नाटकों में युग का स्वर है, जीवन का ठोस धरातल है तथा जनता केलिए जागृति का सन्देश है ।

---

1. भारतेन्दु के नाटक – डॉ. भानुदेव शुक्ल – पृः 78.
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – पृः 84.

भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी नाटक के स्रष्टा ही नहीं थे, अपने युग के लेखकों केलिए द्रष्टा एवं महान प्रेरक भी थे । वे अपने युग के सभी साहित्यकारों के केन्द्रबिंन्दु थे । उनके साहित्यिक प्रतिभा, देश-प्रेम, निर्भीकता एवं त्याग जैसे गुण लोगों को आकृष्ट करने केलिए पर्याप्त थे ।

भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार उनसे बहुत प्रभावित थे । "उनके लिखे ग्रंथ हम को देववाक्यवत् प्रमाण एवं मान्य थे, उनको मानों ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे । हमारे सब कामों का वह आदर्श थे, उनकी एक एक बात हमारेलिये उदाहरण थी ।"[1] इस युग के अधिकांश - नाटककार भारतेन्दु की कृतियों से विषयगत एवं शिल्पगत प्रेरणा ग्रहण कर नाट्य सृजन करते रहे । समूचा युग उन्हीं के व्यक्तित्व एवं प्रतिभा के प्रभाव व प्रेरणा से उन्हीं की धारा में प्रवाहित हुआ है ।

भारतेन्तु युग की नाट्यकृतियों में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ निखर कर सामने आती है । पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों में आदर्श की स्थापना है तो सामाजिक एवं धर्मिक नाटकों में यथार्थवादी एवं सुधारवादी रूप ही उभरा है । प्रेमप्रधान नाटकों में स्वच्छन्ततावादी प्रवृत्ति ही मुख्य है । इनमें प्रेम की विविध अवस्थाओं का विवेचन है । दशरथ ओझा ने लिखा है - इस युग की नाट्य कृतियों में प्रेम की विविध अवस्थाओं और प्रेम तत्व निरूपण का विशद विवेचन हुआ है और वह इस काल की - रचनाओं की मुख्य देन है ।[2] इनमें विविध सामाजि कुरीतियों की भीषणता एवं देश दुर्दशा दिखाकर - जनमानस को उद्बुद्ध करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही है ।

---

1. भारतेन्दु युग - डॉ. रामविलास शर्मा - पृः 82.
2. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृः 198.

भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि नाट्य रचयिता हैं - श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, राधायरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृषण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, प्रेमघन, अम्बिका दत्त व्यास, देवकी नंदन त्रिपाठी आदि ।[1]

वस्तु योजना की दृष्टि से इस युग की अधिकांश कृतियाँ सफल हैं । विशेषकर श्रीनिवासदास कृत "रणधीर प्रेममोहिनी", बालकृष्ण भट्ट कृत "वेणु संहार", राधाचरण गोस्वामी कृत "अमरसिंह राठौर" और सती चन्द्रावली, काशीनाथ खत्री कृत "सिंधू देश की राजकुमारियाँ" प्रतापनारायण मिश्र कृत "दूध का दूध पानी का पानी", "कलिकौतुक रूपक" देवकी नंदन त्रिपाठी कृत "सीताहरण" और "रुक्मिणी हरण", अम्बिकादत्त व्यास कृत गोसंकट आदि ।

अधिकांश नाटकों में विविध सामाजिक अनाचारों की कटु अलोचना है । इनमें प्रताप नारायण मिश्र द्वारा रचित "कलि कौतुक रूपक" विशेष उल्लेखनीय है । यह नाटक भारत की सामाजिक परिस्थिति का चित्रण करता है । इसमें कपटी साधुओं का वितंडावाद, दुराचारियों का दुर्व्यवहार, मांस भक्षियों तथा मदिरा सेवियों का अनाचार दिखाया गया है ।[2] इसी प्रकार श्री राधाकृष्ण दास कृत "दुखिनी बाला" नाटक में समाज में प्रचलित बाल विवाह एवं विधवा विवाह निषेध का दुवपरिणाम दिखाया गया है । श्री बालकृष्ण भट्ट ने "वेणु संहार" में अंग्रेज़ों के फैशन के अनुकरण को देश के हित में घातक सिद्ध किया है । राधाचरण गोस्वामी कृत "अमरसिंह राठौर" "सती चन्द्रावली" तथा - काशीनाथ खत्री कृत सिधू देश की राजकुमारियाँ आदि में बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व के ताने बाने बुने गये हैं । अतः यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के नाटकों की मुख्य प्रवृत्ति ही भारतेन्दु मंडल के नाटककारों की प्रवृत्ति रही ।

---

1. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृः 70.
2. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - डॉ. दशरथ ओझा - पृः 192.

भारतेन्दु और उनकी मंडली के नाटककारों की रचनाएं सफलतापूर्वक मंचित की गयी थीं । भारतेन्दु स्वयं महान अभिनेता भी थे । परन्तु अनेक परवर्ती नाटककारों में यह विशेषता नहीं दिखाई पडी । भारतेन्दु ने जिस समर्थ नाट्य परंपरा का उद्घाटन किया था वह उसके बाद नहीं पनप सकी । द्विवेदी युग में भी हिन्दी नाटक को कोई नयी दिशा नहीं मिली । भारतेन्दु युग में प्राचीन जीवन और समस्याओं को नाट्य रूप देने की जो तीव्र आकांक्षा विद्यमान थी, वह द्विवेदी युग में कहीं नहीं दिखाई देती । द्विवेदी युगीन नाटक के सम्बध में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - परन्तु उनमें कोई दूर तक - ले जानेवाला वैशिष्टय नहीं था, अतः उनका प्रभाव अपने तक ही सीमित रहा । हिन्दी नाट्य साहित्य जिसका उत्थान भारतेन्दु युग में हुआ था द्विवेदी युग में निष्क्रिय बन गया । हिन्दी नाटक साहित्य को एक नयी स्फूर्ती एवं दिशा फिर प्रसाद के आगमन से मिली ।

प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक

प्रसाद युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति लेकर आया । इस युग के नाटकों में राष्ट्रीयजागरण एवं सास्कृतिक चेतना का सजीव चित्र अंकित हुआ है और नवीन दृष्टि से प्राचीन का प्रस्तुतीकरण इस युग की मुख्य प्रवृत्ति है । "प्रसाद का युग व्यावहारिक और वैचारिक संघर्ष का युग था जिसमें देश उठकर उस भावभूमि पर खडा हुआ था, जहाँ प्राचीन नवीन और नवीन प्राचीन का साक्षात्कार करनेकेलिए सक्षम था ।"[1] इन नये साक्षात्कार के क्षणों में युग को एक नयी दृष्टि मिली । उसने कर्म के क्षेत्र में व्यवहार और विचार के क्षेत्र में आदर्श की अवतारणा की । प्रसाद युग का हिन्दी नाटक युग की इस उपलब्धि का संवाहक है ।

---

1. प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प - गोविन्द चातक, पृः ।।.

प्रसाद युग की नाट्य शैली न तो - पाश्चात्य पद्धति पर दुःखान्त है और न भारतीय पद्धति के अनुसार सुखान्त ही ।

जयशंकर प्रसाद

भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाटकों को नया आयाम प्रदान करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को ही है । हिन्दी नाटक को एक नयी स्फूर्ति प्रसाद के आगमन से मिली । नाटक के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा अद्भुत और अपूर्व है । भूत भविष्य और वर्तमान के प्रति प्रसाद की एक नयी दृष्टि रही है । उनकी दृष्टि साधक की दृष्टि है जो बाह्य और आन्तरिक अनुभवों से उभरी है । वे भोक्ता और द्रष्टा दोनों हैं - "प्रसाद ने जीवन को बहुत निकट से देखा है, उसे भोगा है फिर उसे अपनी दृष्टि से परखने और पारिभाषित करने का भी उपक्रम किया है ।"[1]

प्रसाद ने प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृति स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर नाट्य रचना की । उन्होंने राष्ट्र-प्रेम सामाजिक व्यवस्था आदि केलिए जो दार्शनिक आदर्श प्रस्तुत किये, उनमें इतिहास अथवा अतीत अंगी नहीं, माध्यम मात्र है - "उन्होंने कुछ सामयिक सन्दर्भों को इतिहास के माध्यम से विभिन्न चेतना स्तरों पर देखने की कोशिश की है अपने युग के बौद्धिक, दार्शनिक, नैतिक और सामाजिक गत्यवरोधों को तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में व्याप्त आदर्शोन्मुख चेतना के चश्मे में देखना चाहा है ।"[2] उनका मुख्य स्वर आत्म गौरव, उत्थान और उद्बोधन का है ।

प्रसाद प्रथम नाटककार थे, जिन्होंने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक चुनने केलिए स्वयं भारतीय इतिहास की गहरी खोज की थी । जहाँ कहीं उन्हें ऐतिहासिक सामग्री का अभाव मिला वहाँ उन्होंने पुराणों एवं ब्राह्मण ग्रंथों की भी सहायता ली है । इनके नाटकों की अधिकांश घटनाएं और पात्र ऐतिहासिक ही हैं ।

---

1. प्रसाद के नाटक सर्जनात्मक धरातल और भाषिक चेतना - गोविन्द चातक - पृः 27.
2. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (एकादश भाग) - सं. डॉ. सावित्री सिन्हा प्रभृति, प्रसाद के नाटक शीर्षक लेख - पृः 139.

प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं को वर्तमान से जोडने का प्रयास किया है - "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और फिर जिनपर कि वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पडती है ।"[1] निसन्देह प्रसाद का उद्देश्य इतिहास के माध्यम से वर्तमान समस्याओं की ओर ध्यान दिलाने का रहा है । उनके दृष्टिकोण में मात्र सामयिक समस्या के चित्रण का मोह नहीं था, रोमान्स का आग्रह भी था ।

प्रसाद के नाटक - प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रसाद का नाट्य रचनाकाल सन 1910 से 1933 तक है ।[2] इनकी नाट्य कृतियों की संख्या तेरह है । "सज्जन" इनकी प्रथम कृति है तो "ध्रुवस्वामिनी" अन्तिम । इनमें प्रसाद की नाट्यकला का पूर्ण विकास लक्षित होता है । नाटकों में विषयों का वैविध्य और मानवीय भावों का संघर्ष प्रसाद की निजी विशेषता है । नीचे इनकी रचनाओं का यथावत परिचय दिया जाता है ।

सज्जन (1910)

प्रसाद की यह प्रथम नाट्य कृति है । इसका कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है । गधर्वराज चित्रसेन दुर्योधन और उसके मित्रों को बंदी बना लेता है । दुर्योधन द्वारा निर्वासित पाँडवों की सहायता से वे बंधन मुक्त हो जाते हैं । यह पधात्मक शैली में लिखा गया है । "इसमें प्रसादजी ने परंपरागत नाट्य प्रणीला को अपनाया है । संस्कृत नाटकों , पारसी कम्पनियों के नाटकों ,

---

1. विशाख की भूमिका - जयशंकर प्रसाद ।
2. हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृ: 105.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विरचित नाटकों तथा पाश्चात्य नाटक साहित्य का प्रभाव ग्रहण करते हुए नवीन शैली के निर्माण पथ का प्रथम सोपान है सज्जन ।"[1] प्रसाद की समन्वयवादी प्रवृत्ति की झाँकी इसमें निहित है ।

कल्याणी परिणय §1.9.2§

यह ऐतिहासिक नाटक है । चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को पराजित करके उसकी पुत्री कार्नेलिया से विवाह कर लेता है । यही इसका कथानक है । कार्नेलिया के कल्याणी रूप के कारण ही दोनों पक्षों में स्थायी मैत्री होती है । "आगे चलकर यही कथानक चन्द्रगुप्त नाटक का एक अंश बन जाता है ।" इसमें सज्जन की भाँति संवादों में पद्यात्मकता है । 'भारतेन्दु युग की नाट्य-प्रवृत्ति को अपनाया गया है ।

करुणालय §1.9.3§

बंगला के "अमित्राक्षर अखिल" छंद की शैली पर लिखा गया गीति नाट्य है । इसका कथानक "ऐतरेय ब्राह्मण" से लिया गया है । इसकी संवेदना भावनात्मक कवित्वमयी है और इसका शिल्प रंगमंचीय नाट्य कला से युक्त है ।[2] भाषा और अभिनय एक दूसरे पर आश्रित हैं । अन्य नाटकों की तरह इसमें भी दृश्य का आरंभ प्रकृति चित्रण से होता है । चरित्र चित्रण में मौलिकता है ।

प्रायश्चित §1.9.4§

प्रसाद का प्रथम दुःखान्त नाटक है । शिल्पविधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को स्थान दिया है । इसकी कथा इतिहास पर आधारित है । राजा जयचन्द्र अपने दुष्कर्मों पर पश्चाताप कर शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के समय गंगा में डूब कर प्रायश्चित करता है , इसमें यह कथा वर्णित है ।

---

1. प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच - डॉ. सुषमालाल मलहोत्रा - पृः 52.
2. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास - सं. सवित्री सिन्हा प्रभृति - पृः 140.

राज्यश्री (1915)

प्रसाद के कथनानुसार "राज्यश्री" उनका प्रथम ऐतिहासिक नाटक है[1] "राज्यश्री के दो संस्करणों में भिन्नता पायी जाती है। प्रथम संस्करण परीक्षण काल की नाटिका शैली पर लिखा गया है, किन्तु द्वितीय संस्करण परवर्ती नाटकों से अधिक मिलता है।"[2] इसका कथानक सीधा और सरल है। इसमें दो कथा सूत्र हैं। राज्यश्री, हर्ष, गृहवर्मा और देवगुप्त आदि एक कथासूत्र में बंधे हैं तो दूसरे कथानक का संचालन करनेवाले हैं - शान्तिदेव, सुरमा और चीनी यात्री ह्वेनसांग। घटनाओं के मुख्य आधार हैं बाणभट्ट कृत हर्ष चरित और ह्वेनसांग का भारत यात्रा वर्णन। राज्यश्री इसकी नायिका है। प्रसाद के प्रौढ नाटकों की अपेक्षा इसकी भाषा सरल है। नाटक में गुप्तकालीन शब्दावली का प्रयोग है। अभिनय में उपयोगी रंग संकेतों का भी निर्देश इसमें है।

विशाख (1921)

"विशाख" प्रसाद का दूसरा ऐतिहासिक नाटक है। इसका कथानक कल्हण की राजतरंगिणी से लिया गया है। वस्तु विधान पाश्चात्य नाट्य विधान के अधिक निकट है।[3] कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति करता है। इसमें प्रसाद प्राचीन और नवीन शैली के संन्धि स्थल पर खडे होकर भी स्वच्छंदतावाद की ओर झुके दिखाई पडते हैं। घटनाएं गतिशील एवं नाटकीय गुणों से परिपूर्ण हैं। स्थान स्थान पर रंगसंकेत दिये गए हैं। इसके पात्र संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुरूप आदर्शवादी अथवा परंपरायुक्त न होकर शेक्सपियर के चरित्रों की भाँति निजी व्यक्तित्व तथा मानवीय दुर्बलताओं से युक्त हैं।[4]

---

1. राज्यश्री - (भूमिका) नवां संस्करण 1957 - पृ: 8.
2. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ: 216.
3. प्रसाद का नाट्य शिल्प - बनवारीलाल हाण्डा - पृ: 96.
4. वही - पृ: 97.

अजात शत्रु §।922§

यह प्रसाद का पूर्णतया ऐतिहासिक नाटक है । इसका कथानक तीन स्थलों में प्रसरित है - मगध, कोशल और कौशाम्बी । इन स्थलों पर क्रमशः बिम्बसार अजातशत्रु, प्रसेनजित-विरूढक तथा उदयन-पदमावती सम्बधी घटनाएं घटित होती हैं । बिम्बसार और अजातशत्रु का पारिवारिक कलह आधिकारिक कथावस्तु है, अन्य दोनों प्रासंगिक कथाएं हैं । मुख्य कथा का केन्द्र अजातशत्रु है ।

"अजातशत्रु" में पारसी थिएटर के प्रणयफारमुलों का ऐतिहासीकरण न करके , इतिहास की प्रामाणिक सामग्री को वर्तमान और युगीन चेतना के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है ।[1] इसमें हिंसा के स्थान पर अहिंसा की स्थापना करने की कोशिश है । छलना हिंसा की प्रतीक है तो पदमावती अहिंसा की । इसमें प्रसाद ने मानवीय प्रकृति एवं मनःस्थितियों का वर्णन किया है ।

जनमेजय का नागयज्ञ §।923§

कालक्रम की दृष्टि से यह "अजातशत्रु" के बाद की रचना है । परन्तु संवेदना और शैली दोनों दृष्टियों से "अजातशत्रु" के पहले का जान पडता है । यह महाभारत की कथा पर आधारित है । आर्यों और नागों , तथा ब्राह्मण - क्षत्रियों के संघर्ष को पृष्ठ-भूमि पर इसकी रचना हुई है । नाटककार ने समसामयिक हिन्दू-मुस्लीं दंगे को अतीत के परिप्रेक्ष्य में, आर्य नाग संघर्ष के माध्यम से नाटकीय अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

।. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास - सं. सवित्री सिन्हा प्रभृति - पृः ।63.

"कला की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता नहीं है । "कला संविधान की दृष्टि से यह नाटक पौढकाल की रचना होने पर भी शिथिल प्रतीत होता है । इसका वस्तुविन्यास और चरित्र चित्रण परवर्ती नाटकों के समान नहीं हो पाया है"।[1] नाटक में रंगसंकेत है । भाषा में कथावस्तु के वाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व के अनुरूप आपेक्षित त्वरा है ।

कामना §1923-24§

"कामना" मौलिक नाटक है । यह वस्तु और शिल्प की दृष्टि से सर्वथा नवीन है । इसमें मनोविकारों का मानवीकरण है । आधुनिक विलासमयी सभ्यता के प्रति विद्रोह दिखाकर, कृत्रिमता से नैसर्गिकता की ओर अग्रसर होने का सन्देश इसमें दिया गया है । यह "कामयनी" के चिन्तन का पूर्व रूप है ।[2]

प्रवृत्ति की दृष्टि से "कामना" एक प्रतीक नाटक है । नाटककार ने इसके ज़रिए भौतिकवाद के विरुद्ध मोर्चा खडा किया है । इसकी रचना प्रथम महायुद्ध के बाद हुई है । रचना के पीछे प्रसाद का यह उद्देश्य रहा कि दुनिया युद्ध से छूटकर शांति का सुख भोग सके । इसमें जो समस्याएँ उठायी गयी है वे व्यक्ति और समाज दोनों से संबद्ध हैं ।

स्कन्दगुप्त §1928§

प्रसाद के नाटकों में सब से महत्वपूर्ण अन्तःसंघर्ष प्रधान नाटक है "स्कन्दगुप्त" । "जनमेंजय का नागयज्ञ" में युगीन चेतना सैद्धान्तिक मापदण्डों पर स्थापित की गयी थी । स्कन्दगुप्त में वह संशोधित रूप में चरम सीमा पर पहुँचती है

---

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ: 233.
2. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - शान्ति मलिक - पृ: 111.

इसका कथानक कुमारगुप्त के राज्यकाल की घटनाओं पर आधारित है । वस्तु-विन्यास कुछ त्रुटियों के होते हुए भी अब तक रचे गये सभी नाटकों की अपेक्षा संगठित एवं सुसम्बद्ध है । कथावस्तु का निर्माण स्कन्दगुप्त और उसके सहयोगियों को लेकर हुआ है ।

कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया है कि प्रसाद ने इसमें ऐतिहासिक समग्री का उपयोग बहुत कम किया है और जिसका उपयोग किया है वह अत्यन्त संदिग्ध है । डॉ. सवित्री सिन्हा के अनुसार यह आरोप व्यर्थ है ।[1]

स्कन्दगुप्त की मुख्य विशिष्टता द्वन्द्व के संयोजन में है । अन्तरिक वृत्तियों का द्वन्द्व केवल प्रसाद ने पहली बार अपने नाटकों में दिखाया ।[2] स्कन्द-गुप्त में यह द्वन्द्व अपनी चरमसीमा पर पहुँचा है ।

एक घूँट §1929§

"एक घूँट" में प्रसाद ने आनंद के प्रश्न पर विचार किया है । कुछ आलोचकों ने इसे एकांकी नाटक माना है ।[3]

नाटककार शैव आनंदवाद से अत्यधिक प्रभावित हैं । इसका पात्र आनंद स्वयं आनंदवाद का व्याख्याता बन कर उपस्थित होता है । वह कहता है "विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है , इस जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ-अपने आत्म भाव में, निर्विशेष रूप में - रहने पर सफल हो सकती है ।[4] इसकी भावभूमि सामाजिक है ।

---

1. प्रसादजी ने नाटक से सम्बद्ध सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक आधारों का अध्ययन किया है और उसे अपने कथ्य के अनुसार संशोधित और निरूपित करके उसका उपयोग किया है - हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास -सं. सावित्री सिन्हा प्रभृति - पृ: 168.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी -पृ: 79.
3. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. नगेन्द्र - पृ: 131.
4. एक घूँट - जयशंकर प्रसाद - पृ: 15.

चन्द्रगुप्त §1.93.§

चन्द्रगुप्त प्रसाद की प्रौढ रचना है । इसमें अतीत के इतिहास का बडा विस्तृत फलक है, जिसकी राजनीतिक गतिविधियाँ तक्षशिला से लेकर मगध तक फैली हुई है ।[1] मूल कथानक चन्द्रगुप्त और चाणक्य से सम्बध रखता है । प्रमुख तीन ऐतिहासिक घटनाएँ हैं इसमें - सिकन्दर का भारत आक्रमण, नंदकुल का उन्मूलन, सिल्यूकस की पराजय । 25-30 वर्ष की घटनाओं का चित्रण है । अतीत की इतनी बडी कालयात्रा कराने के कारण प्रसाद को पात्रों के नाटकीय चित्रण का अवकाश नहीं मिला है ।

राजनैतिक दृष्टि से चन्द्रगुप्त अधिक महत्वपूर्ण है । इसमें विदेशी आक्रमणकारियों और विजेताओं को पराजित करने केलिए छोटे छोटे राज्यों को एक हो जाने का आदेश है । नाटककार ने व्यक्त किया है कि छोटा छोटा स्वार्थ देश की एकता में बाधक है । इसके सशक्त पात्र चाणक्य में आधुनिक राजनैतिक नेताओं का प्रतिबिंब है । चन्द्रगुप्त शूर वीर होने पर भी चाणक्य के हाथ की कठपुतली मात्र है । चाणक्य कभी कभी इतना क्रूर बन जाता है कि वह पाठकों के हृदय में घृणा का पात्र बन जाता है । लेकिन अन्त में यह विदित हो जाता है कि भारत की एकता ही उसका महान उद्देश्य है ।

"चन्द्रगुप्त" में चाणक्य तथा दांड़ायायन के रूप में ब्राह्मणत्व का बिंब बडे प्रभावशाली रूप में उभरता है । पूरा नाटक देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है ।

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 85.

ध्रुवस्वामिनी (1933)

"ध्रुवस्वमिनी" प्रसाद की सृजनात्मक प्रतिभा का शीर्ष बिन्दु है । इसका वस्तुविन्यास अत्यन्त पुष्ट एवं निर्दोष है ।[1] नाटक की लघुता प्रभावोत्पादकता में सहायक है । इसकी कथा तीन अंकों में विभाजित है, ये अंक ही दृश्य हैं । सभी घटनाएं एक ही स्थान पर घटित होती हैं । इसमें हिन्दू विवाह सम्बधी समस्या को उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

"ध्रुवस्वामिनी" में प्रसाद ने अपनी प्रचलित नाट्य शैली को छोडकर एक नयी शैली का प्रयोग किया है । नवीन शैली का प्रयोग करते समय वे पाश्चात्य समस्या नाटकों के यथार्थवादी विधान के नज़दीक खिंच आते हैं । नाट्य शैली का यह मोड इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी नाटकों की दिशा अब बदलने ही वाली है । यद्यपि इसकी शैली समस्या नाटकों के यथार्थवादी शिल्प के निकट आती है फिर भी आलोचक इसे समस्यानाटक की कोटि में नहीं रखते "ध्रुवस्वामिनी" में प्रसाद ने यथार्थवादी संवाद, रंगमंच और प्रणाली अपनाई है ।

प्रसाद के व्यक्तित्व का मूल आधार समन्वय है । कल्पना इनके समस्त साहित्यिक रूपों की मूल स्रोत है । समत्वयात्मक दृष्टिकोण उनके समस्त नाटकों में विद्यमान है।प्रसाद की महत्ता एक सन्तुलित एवं समन्वित पद्धति के निर्माण में ही नहीं, प्रत्युत उसे व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान करने में भी ।

समस्या नाटक

समस्या नाटक यथार्थवादी नाटक की एक विशिष्ट शैली है , नाटक की एक स्वतंत्र विधा की द्योतक है । "उन्तीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय रंगमंच पर जिस नये यथार्थवादी एवं विचार प्रधान बौद्धिक नाटक का विकास हुआ,

---

1. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृ: 119.

उसे ही समस्यानाटक के नाम से अभिहित किया जाता है ।"[1] इस नाट्य विधा का उद्भावक नार्वे निवासी इब्सन को माना जाता है । उनके नाट्य प्रयोगों -"दि पिलर्स आफ सोसायटी" "डालस हाउस", "गोस्ट" आदि में समस्यानाटक का स्वरूप उद्भासित है । इन नाटकों के सृजनात्मक मर्म में ही समस्यानाटक के अंगीभूत लक्षणों का रहस्य छिपा हुआ है । तभी से आधुनिक यथार्थवादी नाट्य शिल्प को अपनाकर लिखे जानेवाले विचार प्रधान नाटकों को समस्या नाटक कहा जाता है ।

प्रगतिवादी एवं यथार्थवादी साहित्य विचारधारा के प्रसार के साथ विश्व के अनेक साहित्यों में समस्यानाटकों की रचना होने लगी । लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी में इस नाट्य विधा को अवतरित किया । "हिन्दी में समस्या नाटक की रचना का सम्यक रूप लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत "सन्यासी" (1929 ई.) एवं कृपानाथ मिश्र कृत मणिगोस्वामी में ही मिलता है ।"[2] 1930 ई. के बाद हिन्दी में समस्यानाटकों की यह नयी शाखा काफी समृद्ध होने लगी ।

सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत , वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर प्रभृति अन्य नाटककारों ने इस शाखा को आगे बढाया । इन्में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क एवं विष्णु प्रभाकर का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

"सन्यासी" (1930) "राक्षस का मंदिर" (1931) , "मुक्ति का रहस्य" (1932) , "राजयोग" (1933) और "आधीरात" (1936) लक्ष्मी-नारायण मिश्र के प्रसिद्ध समस्या नाटक हैं । इनमें समसामयिक जीवन की समस्याओं का मंचीकरण किया गया है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास - दशरथ ओझा - पृः 119.
2. वही - पृः 122.

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यानाटकों का केन्द्र सेक्स है ।[1] इसके साथ ही नाटककार ने पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि युगीन समस्याओं को भी संलग्न करने का प्रयत्न किया है । वे अपने युग परिवेष एवं उसमें बनते बिगडते सम्बधों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने में समर्थ हैं । मिश्रजी बौद्धिक ईमानदारी पर बहुत बल देनेवाले लेखक हैं । "इनके नाटकों की प्रमुख प्रवृत्ति जीवन को जडीभूत और कुण्ठित करनेवाले परंपरागत सामाजिक बंधनों तथा तथाकथित सभ्यता की प्रगति के प्रति विद्रोह है ।"[2] उनकी कृतियाँ आधुनिक उच्चशिक्षा प्राप्त सभ्य, सुसज्जित समाज के नैतिक तथा सामाजिक जीवन के वैषम्यों, संघर्षों तथा मानवीय दुर्बलताओं को लेकर लिखी गयी है । शिक्षित वर्ग की वासना सम्बधी स्थिति को भी नाटककार ने प्रकट किया है ।

मिश्रजी का "सन्यासी" हिन्दी का पहला समस्यानाटक है ।[3] इसकी कथावस्तु विश्वकान्त और मालती के स्वाभाविक उनुराग को लेकर चलती है । नाटककार ने इसमें आधुनिक शिक्षा एवं वातावरण से उद्भूत समस्याओं - यौन प्रेम, अनमेल विवाह - का चित्रण किया है । उनके समस्या नाटकों में यौनप्रेम और विवाह का जो रूप प्रकट हुआ है, वह रूढि भंजक ही है ।[4]

"सन्यासी" की परंपरा में लिखा गया दूसरा नाटक है "राक्षस का मंदिर" । यह आधुनिक सामाजिक जीवन की विषमताओं पर आधारित है । इसमें मिश्रजी ने मनुष्य की जिन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर, प्रवृत्तियों के चढाव और उतार को, दैवी और रक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को देखने परखने की चेष्टा की है ।[5] इसके प्रमुख पात्र हैं मुनीश्वर, रामलाल,

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास - दशरथ ओझा - पृः 123.
2. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृः 331.
3. हिन्दी नाटक उदभव और विकास - दशरथ ओझा - पृः 344.
4. हिन्दी साहित्य बृहत रतिहास - सवित्री सिन्हा - पृः 124.
5. राक्षस का मंदिर - लक्ष्मीनारायण मिश्र मेरा दृष्टिकोण - पृः 6.

अश्गरी आदि । अश्गरी का उन्मुक्त काम ही नाटक की मुख्य समस्या है । मुनीश्वर के चित्रण में देवत्व और दानवत्व का संघर्ष स्पष्ट है - "मुनीश्वर के भीतर विवेक और प्रवृत्ति का जो द्वन्द्व मुझे देख पडता है, आज दिन शिक्षित समुदाय की वही सबसे बडी समस्या है - रहे या न रहे अभी समाप्त नहीं हुआ ।"[1]

"सन्यासी" में नाटककार ने पूँजीवाद के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किये हैं - संसार का धन थोडे से पूँजीपतियों के हाथ में चला गया है और संसार के तीन चौथाई आदमी शाँम की रोटी केलिए दिन भर मरते हैं [2] इन समस्याओं के अतिरिक्त आस्तिकता - नास्तिकता, इलैकशन, गाँधीवाद, विवाह के बाह्य विधान आदि पर भी विचार विमर्श इसमें हुआ है ।

"मुक्ति का रहस्य" सामाजिक जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करनेवाला नाटक है । स्त्री और पुरुष की चिरन्तन काम वासना का अंकन इसमें हुआ है । उमाशंकर, आशादेवी, डॉ. त्रिभुवननाथ, मुरारीसिंह काशीनाथ आदि इसके प्रमुख पात्र हैं । हर एक पात्र एक एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है ।

"सिंदूर की होली" मिश्रजी का उत्कृष्ट समस्यामूल नाटक है । इसमें लेखक का बुद्धिवादी दृष्टिकोण कुछ निखार एवं स्पष्टता को प्राप्त करता है । इसकी मुख्य समस्या विवाह की है । मनोरमा विवाह के बाह्य विधानों को प्रधानता देती है तो चन्द्रकला समाज की स्वीकृति की अपेक्षा आत्म समर्पण को श्रेष्ठ समझती है । "प्रकृति और प्रवृत्ति की दृष्टि से भिन्न होने पर भी इन दोनों स्त्री पात्रों ने विधवा समस्या का समाधान समान रूप से प्रस्तुत किया है ।"[3]

---

1. राक्षस का मंदिर - लक्ष्मीनारायण मिश्र मेरा दृष्टिकोण - पृः 7.
2. वही - पृः 136.
3. हिन्दी के समस्या नाटक - डॉ. विनय कुमार - पृः 191.

"सिंदूर की होली" में प्रचलित एलोपैथी चिकित्सा पद्धति की त्रुटियों की ओर संकेत है । "इस चिकित्सा पद्धति में रोग के कारण का अनुसंधान नहीं किया जाता, रोग की कल्पना करके दवा दी जाती है ।"[1] नाटक का पात्र मनोजशंकर एलोपैथी चिकित्सा के स्थान पर प्रकृति चिकित्सा पर ज़ोर देता है - "स्वस्थ रहने केलिए आवश्यक है कि मनुष्य के - जीवन बल को दृढ किया जाय, प्रकृति के रास्ते पर लौट अया जाय ।"[2] हमने जीवन के इस मार्ग को छोड दिया है परिणाम यह हुआ है कि डॉक्टर संजीवनी लिये रहते हैं और मृत्यु संख्या रोज़ रोज़ बढती ही जा रही है ।[3]

"आधीरात" (1936) में नाटककार ने एक अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त महिला मायावती के माध्यम से अवैध प्रेम की समस्या को उठाया है । वह पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगी चार पुरुषों से प्रेम करती है और तीन के साथ विवाह भी करती है । अन्त में वह जीवन से असन्तुष्ट होकर नदी में डूब कर आत्महत्या करती है । राधाचरण प्रकाश चन्द्र से मयावती के अवैध प्रेम तथा विवाह के सम्बध में कहता है - जिस स्त्री के जीवन में एक, दो, तीन, चार इतने प्रेमी हो उठे सिवा आत्म-हत्या के वह और कर ही क्या सकेगी! मनुष्या की यह विडम्बना मिटेगी कब![4] आज इस अवैध प्रेम के कारण अवैध संतान की समस्या उत्पन्न होती है ।

"राजयोग" (1933) की प्रधान समस्या भी वैवाहिक विषमता है । शत्रुसूदन, नरेन्द्र और चम्पा आदि इसके प्रमुख पात्र हैं । अवैध यौन सम्बध से चम्पा के जन्म की घटना नाटक की आधारशिला है । चंपा की चारों तरफ सारी घटनाएं घूमती हैं ।

---

1. सिंदूर की होली - मिश्र - पृ: 63.
2. वही - पृ: 64.
3. वही । पृ: 64
4. आधीरात - लक्ष्मी नारायण मिश्र - पृ: 130-131.
5. हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृ: 333.

शत्रुसूदन, नरेन्द्र और चम्पा के प्रेम के ज़रिए नाटककार यह व्यक्त करना चाहते हैं कि आज की वैवाहिक विडम्बना का मूल कारण पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण ही है ।

हरिकृष्ण प्रेमी

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के परवर्ती नाटकों में मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दिखाई पडती है - §1§ सास्कृतिक पुनरुथान की चेतना और §2§ राष्ट्रीय नैतिक चेतना । सास्कृतिक नाटकों की कथावस्तु का चयन भारत के प्राचीन इतिहास से किया गया है तो राष्ट्रीय नाटकों की वस्तु मध्यकाल के मुगल, राजपूत और मराठा काल से ग्रहण की गयी है । इन दोनों प्रकार के नाटकों में भारत की सांस्कृतिक महत्ता एवं राष्ट्रीय एकता का चित्रण है ।

इस धारा के नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी का प्रमुख स्थान है । इनके नाटकों का मूलाधार राष्ट्रीय एवं नैतिक चेतना है ।[1] "रक्षाबंधन" §1934§, "प्रतिशोध" §1937§, "विषपान"§1945§, "प्रकाश स्तंभ" §1954§, "कीर्तिस्तय" §1955§ आदि उनके प्रमुख ऐतिहासिक नाटक हैं ।

"रक्षाबंधन" में मेवाड की वीर गाथा एवं राजपूत रमणियों का जौहरव्रतपालन का वर्णन है । "प्रतिशोध" में बुन्देलखण्ड के वीर चम्पतराय के संघर्षमय जीवन और देश केलिए बलिदान की कथा वर्णित है । "विषपान" में मेवाड के महाराणा की पुत्री कृष्णा केलिए जोधपुर के मानसिंह और जयपुर के जगतसिंह का अपसी संघर्ष, सरदारों के पारस्परिक विद्वेष के कारण मेवाड का शिथिल होना, देश की शोचनीय स्थिति देख कर कृष्णा का स्वयं विषपान करना आदि बात्तों का वर्णन है । "प्रकाश स्तंभ" में मेवाड के राजा बाप्पा रावल के जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन है । कीर्तिस्तंभ राजपूतों के गृहकलह, संग्रामसिंह के अज्ञातवास आदि प्रसंगों पर आधारित है ।

---

1. हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृः 261-62.

हरिकृष्ण प्रेमी ने नीरस ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पना का रंग भरकर सजीव एवं आकर्षक बना दिया है । उनका मत है - नाटक में इतिहास की अक्षरशः रक्षा करना करना कठिन कार्य होता है फिर नाटक में दो-एक पात्रों का चरित्र सर्वथा काल्पनिक भी हो सकता है ।[1] उनके अन्य नाटक "आहुति" (1940) "स्वप्नभंग" (1940) "मित्र" (1945), "उद्धार" (1944) आदि भी राष्ट्रीय-नैतिक भावनाओं से ओतप्रोत हैं ।

वस्तु विन्यास की दृष्टि से उनके अधिकांश नाटक सुसंबद्ध एवं गतिशील हैं । इनमें नाटयकला का उत्तरोत्तर विकास एवं निखार स्पष्ट है । बाह्य और आन्तरिक संघर्ष उनके नाटकों की प्रमुख विशेषता है । राष्ट्रीय एकता और रक्षा को ध्यान में रखकर पात्रों की सृष्टि की गयी है । रचना विधान की दृष्टि से हरिकृष्ण प्रेमी की अधिकांश रचनाएं प्रौढ बन पडी हैं ।

उपेन्द्रनाथ अश्क

हरिकृष्ण प्रेमी के परवर्ती नाटककारों में श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का प्रमुख स्थान है । इनका रचनाकाल सन 1937 से प्रारंभ होता है ।[2] अश्कजी पहले प्रसाद की नाट्य पद्धति को अपनाकर नाट्य रचना करते थे । लेकिन अपने प्रथम ऐतिहासिक नाटक "जयपराजय" के बाद उन्होंने प्रसाद पद्धति को तिलांजली दी । बाद में उन्होंने नूतन दृष्टिकोण और शिल्पविधान को अपनाकर हिन्दी नाटक को निजत्व प्रदान किया - "उन्होंने हिन्दी के पिछले नाटकों के गुणदोषों के अनुभव से कलाचातुर्य द्वारा हिन्दी नाटक के टैकनिक को नयी देन दी ।[3]

---

1. शिवासाधना - हरिकृष्ण प्रेमी - अपनी बात - पृः 8.
2. नाटककार अश्क - जगदीश चन्द्रमाथुर - पृः 10.
3. हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - पृः 401.

"जयपराजय" (1937) , "स्वर्ग की झलक" (1938), "छठा बेटा" (1940) "कैद" (1945) , "उडान" (1945) , "भंवर" (1950) "अलग अलग रास्ते" (1953) , "अंजोदीदी" (1954), और "पैंतरे" (1952) आदि अश्कजी के श्रेष्ठ नाटक हैं ।[1] इनमें जयपराजय को छोडकर शेष सभी नाटक सामाजिक हैं । वर्तमान जीवन की यथार्थ समस्याओं का चित्रण कर उसका समाधान ढूँढना उनके नाटकों की प्रमुख प्रवृत्ति है ।

"जयपराजय" ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । अश्कजी की यथार्थवादी दृष्टि इसमें स्पष्ट है । इसकी कथावस्तु राजपूत काल से ली गयी है । इसके पात्रों के चरित्र में जयपराजय का संघर्ष मिलता है ।

"स्वर्ग की झलक" मध्यवर्गीय आधुनिकाओं के अस्वस्थ समाजिक जीवन पर एक गहरी चोट है । इसमें विवाह और प्रेम की समस्या का चित्रण है । नाटक से ध्वनित होता है कि आधुनिकता और पौराणिकता के समन्वय से ही नारी का स्वस्थ विकास सम्भव है । मानव की अतृप्त आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का अंकन भी इसमें है । नाटककार की समाजिक दृष्टि यथार्थवादी है । यह सफल रचना है ।

"कैद" और "उडान" नारी जीवन की दो समस्याओं के प्रतीक हैं । "कैद" में अवांछित पति के साथ जीवन बिताने केलिए बाध्य एक नारी की दर्दभरी कहानी है । "उडान" में स्त्री पुरुष के सम्बधों का चित्रण है । नाटककार ने यह स्पष्ट किया है कि आधुनिक नारी न तो पूजा की सामग्री बनना चाहती है, न संभोग की वस्तु - वह बनना चाहती है केवल संगिनी ।

---

1. नाटककार अश्क - जगदीश चन्द्रमाथुर - पृ: 39.

"अलग अलग रास्ते" में विवाह की समस्या है । इसमें प्रतीकात्मक शैली में समस्या प्रस्तुत की गयी है । आन्तरिक संघर्ष को कलात्मक ढंग से चित्रित करने की नाटककार की क्षमता इसमें व्यंजित है - अश्क ने प्रेम, विवाह और दाम्पत्य के संघर्षों को लिया है । "अलग अलग रास्ते" "कैद", "उडान" तथा भंवर इन्हीं सघर्षों का क्रमश: आयोजन है ।[1]

"अंजो दीदी" हास्य और गांभीर्य का संधिस्थल है । इसमें नियम-बद्ध जीवन को सनक बनानेवाली अंजली {अंजो दादी} की खिल्ली उडाई गयी है । नाटककार ने माता-पिताओं को यह निर्देश दिया है कि वे अपने बच्चों को स्वा-भाविक रुचि के अनुसार जीवन पथ पर बढने दें । अपनी कुंण्ठाओं को उनपर कभी भी न लादें ।

वैयक्तिक समाजिक विषमताओं के कारण एक व्यक्ति का व्यक्तित्व कभी कभी एक प्रश्न-चिह्न रह जाता है । "भंवर" की नायिका एक ऐसा चरित्र है । उसने अपने जीवन का जो स्वप्न बना कर रखा है, वह किसी के साथ पूरा न होते देख कर अपने में सिमट जाता है । इसकी कुण्ठा को अश्क ने बडी सफलता से व्यक्त कर दिया है । "पैंतरे" में मकान की दुर्लभता की समस्या के साथ फिल्मी जीवन की हास्य व्यग्य की झाँकी है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अश्क के नाटकों की प्रमुख प्रवृत्ति यथार्थवादी है । अधिकांश नाटकों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है । उनमें उच्च कलात्मकता और मनोरंजकता दोनों विद्यमान हैं - उनके नाटकों में विभिन्न नाटकीय तत्वों का रासायनिक मिश्रण है ।

---

1. प्रसादोत्तर कालीन नाटक - भूपेन्द्र कलसी - पृ: 167.

न तो वे हिन्दी के समस्या नाटकों की तरह संधिच्युत है और न असंगठित । वस्तु के यथार्थ को अभिव्यक्त करने केलिए नाटकीय तत्वों को उनमें कलात्मक रूप से समन्वित किया गया है और वे कला की दृष्टि से आधुनिक अंग्रेज़ी, अमरीकी तथा यूरोपियन नटकों की तरह है ।[1]

प्रसादोत्तर काल में लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क के अलावा सेठ गोविन्द दास, वृन्दावनलाल वर्मा, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा आदि नाटककारों ने अपने समर्थ नाटकों से हिन्दी नाटक साहित्य को पुष्ट किया है । लेकिन इनके नाटकों में प्रवृत्तिगत दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है । इनमें भुवनेश्वर प्रसाद एक ऐसे नाटककार हैं जिनके नाटकों में आधुनिक समसामयिक समस्याओं की झाँकी दिखायी पडती है ।

भुवनेश्वर प्रसाद

श्री भुवनेश्वर प्रसाद आधुनिक विसंगत नाट्य शैली के जन्मदाता हैं । आधुनिकता की शुआत उनके नाटकों से हुई ।[2] उन्होंने हिन्दी नाट्य कला को परंपरावादी धरातल से हटाकर यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करके नया जीवन प्रदान किया है । उनके नाटकों के बेतुके संवाद एवं व्यग्य उन्हें अपने समकालीन पाश्चात्य विसंगत नाटककारों के समकस ले आते हैं ।[3] उन्होंने हिन्दी में अनेक एकांकी नाटकों की रचना की है । "तांबे के कीडे" , "ऊसर" और स्ट्रइक इनमें विशेष महत्वपूर्ण हैं ।

---

1. नाटकार अश्क - जगदीश चन्द्र माथुर - पृः 181.
2. आधुनिकता के पहलू - डॉ. इन्द्रनाथ मदान - पृः 98.
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृः 247.

"ताँबे के कीडे" में आज की समाजव्यवस्था के प्रति चुभता व्यंग्य है ।[1] यह कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नया प्रयोग है । यांत्रिक सभ्यता के प्रसार के कारण जीवन में जो परिवर्तन आये हैं उन्हीं का इसमें अंकन है । इसमें न तो कोई कथा है और न चरित्र-चित्रण । पात्र झुनझुनेवाली अनाउंसर, रिक्शावाला, परेशान रमणी, थका अफसर आदि अलग अलग जीवन क्षेत्रों से जुडे हैं । वे एक चौराहे पर इकट्ठे अलग अलग लोग लगते हैं जिनका आपस में कोई सम्बध नहीं । नाटक बाहर से बिखरा होकर भी आन्तरिक स्तर पर विसंगति की लय में गुँथा हुआ है ।

"ऊसर" में आधुनिक सभ्यता में पले ऊसरनुमा व्यक्तियों का चित्रण है । समाज की विषम परिस्थितियाँ प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत की गयी हैं । पात्रों के आचरणों से लेखक का तीव्र अवसाद एवं असन्तोष प्रकट हुआ है । "स्ट्राईक" में मध्यवर्गीय समाज के उन व्यक्तियों का चित्रण है जो उच्च शिक्षा प्राप्त होने के गर्व में पारिवारिक सम्बधों को नकार देते हैं ।

भुवनेश्वर प्रसाद की नाटय कला पर पश्चिम का सीधा प्रभाव है । "उनकी तकनीक तथा विषय सभी पर शॉ, इब्सन, तथा डी. एच. लारेन्स का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है ।[2] उन्होंने अपने नाटकों में सामाजिक जीवन की विकृतियों पर कठोर आघात किये हैं । उनके आघातों में जितनी निर्ममता है उतनी ही व्यंग्यात्मकता । व्यंग्य में तीखापन उनकी अपनी विशेषता है । यह प्रवृत्ति उन्हें अपने जीवन से प्राप्त हुई है । इसके सम्बध में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - "जीवन की किसी भी वस्तु में उन्हें आस्था नहीं । इस निरास्था की जननी ज्ञानजन्य विरक्ति नहीं है , ईर्ष्या और जलन है - असफलता की कुढन है । इसीलिए उनके हृदय में जीवन के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार की भावना नहीं है - उसमें तो व्यंग्य और विष है - वटलर का सा, कबीर का सा नहीं । उसमें नहीं है हाँ कहीं नहीं ।"[3]

---

1. एकांकी और एकांकीकार - डॉ. रामचरण महेन्द्र - पृ: 137.
2. आधुनिकता और हिन्दी एकांकी - माखनलाल शर्मा - पृ: 114.
3. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. नगेन्द्र - पृ: 137.

उनके नाटकों में तत्कालीन युग की मनःस्थिति को पहचानने वाले नये कथ्य और "फार्म" की तलाश है ।[1] साथ ही साथ एक नयी नाट्य भाषा की खोज, शब्दों में प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता भी है ।

जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी नाटक साहित्य को एक नयी दिशा देनेवालों में से एक हैं जगदीशचन्द्र माथुर । "कोणार्क" (1952), "पहला राजा" (1969) और "शारदीया" ( ) उनकी नाट्य प्रतिभा को उजागर करनेवाली कृतियाँ हैं ।

"कोणार्क" वह पहला नाट्य प्रयोग है जो - परंपरा को नये स्तर से जोडता है ।[2] इसकी रचना तब हुई जब हिन्दी नाटक की अपूर्णता का बोध नये प्रयोगों केलिए आमंत्रण दे रहा था । इसमें एक ओर इतिहास के माध्यम से आज का युगबोध तथा दूसरी ओर पाश्चात्य तथा भारतीय रंग तत्वों के अन्वेषण द्वारा एक नये नाट्य रूप की खोज का प्रयास है । "परंपरागत संस्कृत, लोक और पाश्चात्य नाट्य शैलियों तथा ध्वनिप्रकाश आदि आधुनिक पाश्चात्य रंगमंच की नवीनतम शैलियों के उपयोग से माथुरजी ने कोणार्क का जो रूपबंधन खडा किया है उसका रूप नितांत नवीन एवं प्रयोगात्मक है ।"[3]

"कोणार्क" में पीढियों के अन्तराल और उसमें पैदा होनेवाले द्वन्द्व का चित्रण है । इसके प्रफख पात्र विशु और धर्मपद दो पीढियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । विशु कायरता का और धर्मपद संघर्षरत पौरुष का प्रतीक है ।[4] धर्मपद विशु से कहता है - "जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोडों को देखता हूँ तो मुझे

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृः 247.
2. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक - पृः 29.
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृः 117.
4. जगदीश चन्द्र माथुर की नाट्य सृष्टि - डॉ. नरनारायण राय - पृः 46.

याद आती है पसीने में नहाते एक किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेनेवाले मल्लाह की, दिन पर कुलहाडी लेकर खटकनेवाले लकडहारे की ।"[1] विशु कला के क्षेत्र में रूढिग्रस्त परंपरा को ढोनेवाले बुजुर्ग का प्रतिनिधित्व करता है ।

"पहला राजा" जगदीशचन्द्र माथुर का दूसरा नाटक है । यह मिथकीय है । इसकी कथावस्तु का आधार वैदिक एवं पौराणिक है । लेकिन नाटक की रचना इस प्रकार हुई है कि इसे पौराणिक नहीं कहा जा सकता । नाटककार ने नाटक की भूमिका में यह स्पष्ट किया है ।[2]

"पहला राजा" में पृथु के पौराणिक उपाख्यान की पृष्ठभूमि में आधुनिक राष्ट्रीय समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास है । अन्य पात्र पौराणिक होते हुए भी आज के किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । पृथु स्वतंत्र भारत के प्रथम - प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु का प्रतिरूप है । पृथु के राजत्व काल में जो समस्याएं उठती हैं उनमें नेहरुकाल की समस्याओं का प्रतिफलन है । पृथु पुरुषार्थ और परिश्रम का प्रतीक है । उर्वी धरती का प्रतीक । मुनिगणों में वर्तमान राष्ट्रीय नेताओं का प्रतिबिंब मिलता है । वेन के देहमंथन की कथा स्वतंत्रता पूर्व की स्थिति की ओर इशारा करती है । देश की मानसिकता में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं आया है । केवल चेहरे बदले व्यवस्था नहीं बदली । कवष के माध्यम से वर्ण संकरता की समस्या को भी उठाया गया है ।

"शारदीया" भी कोणार्क की भाँति ऐतिहासिक कथा पर आधारित है । नरसिंहराव और बायजाबाई की प्रणयकथा में ऐतिहासिकता की अपेक्षा नाटककार की भावप्रवणता अधिक लक्षित है । "कल्पना और अनुभूति का सम्मिश्रण शारदीया को

---

1. कोणार्क - जगदीश चन्द्र माथुर - पृ: 34.
2. "मुख्य पात्र और प्रसंग मैं ने वैदिक और पौराणिक इतिहास से लिये हैं । लेकिन इसी लिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता" - पहला राजा भूमिका ।

असाधारण भावबोध से मंडित करता है । उसके बीच से जो मानवमूल्य उभरे हैं , वे आन्तरिक और आत्मिक सौन्दर्य के प्रतीक हैं ।"[1] नाटक तामसिक और सात्विक शक्तियों के संघर्ष पर आधारित है ।

माथुर के सभी नाटकों में जीवन की जटिलताओं, आहत स्वप्निल आकांक्षाओं, विसंगतियों और संघर्षों का मर्मिक अंकन हुआ है । रंगशिल्प के प्रति माथुर पूरी तरह जागरूक दिखाई देते हैं ।

मोहन राकेश

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों में मोहन राकेश एक सशक्त हस्ताक्षर हैं । "उन्होंने अपने नाटकों से हिन्दी में एक नया दर्शक वर्ग तैयार किया और जयशंकर प्रसाद के बाद पहली बार हिन्दी रंगमंच की सार्थकता का एहसास - कराया ।"[2] उनके नाटकों में आधुनिक भावबोध की गहरी दृष्टि मिलती है । इसके सम्बध में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है - "लहरों के राजहंस" तथा "आषाढ का एक दिन" मोहन राकेश के नाटक हैं जिनमें आधुनिक शिल्प, नये मूल्य और अभिनव परिवेश को महत्ता दी गयी है । ये नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की नवीनतम प्रगति की ओर संकेत करते हैं ।[3]

"आषाढ का एक दिन" (1958) अब तक रचित नाटकों से एक दम भिन्न है । इसका प्रमुख पात्र है इतिहासप्रसिद्ध कविकुल गुरु कालिदास । वह आधुनिक दुर्बल मानव का प्रतिनिधि एवं समस्त सृजन शक्ति का प्रतीक है - "कालिदास के मेरेलिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजन शक्ति का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक

---

1. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक - पृ: 46.
2. धर्मयुग 17 दिसम्बर 1972 - पृ: 23.
3. 20 वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये संदर्भ, आधुनिक हिन्दी नाटक - पृ: 224.

उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने केलिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है ।"[1] आषाढ का एक दिन का परिवेश ऐतिहासिक है । लेकिन इसमें आज की समस्याओं को मानसिक धरातल पर उठाया गया है ।

मल्लिका का चरित्र नाटक का मौलिक योगदान है । वह कालिदास के बचपन की सहचारी, यौवनकाल की प्रेयसी और काव्य सर्जन की प्रेरणा मूर्ति है । नाटक में उसका चित्रण - भारत की समर्पण प्रवण नारी के रूप में हुआ है ।

"लहरों के राजहंस" (1963)[2] स्त्री पुरुष सम्बन्धों की विडम्बना को चित्रित करनेवाला सशक्त नाटक है । नाटककार ने इसमें नंद और सुन्दरी के माध्यम से आधुनिक जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने का प्रयास किया है । नंद आधुनिक मनुष्य के सन्दर्भ में ही नहीं किसी भी काल के द्विविधाग्रस्त-व्यक्ति का प्रतीक है जिसके अन्दर निर्णय अनिर्णय के द्वन्द्व की स्थिति चलती है । द्विविधाग्रस्त नंद की स्थिति इन शब्दों में व्यक्त है - "मैं चौराहे पर खडा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने केलिए उसके पास कोई आवरण नहीं है । जिस किसी दिशा की ओर पैर बढाता है, लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है और मैं पीछे छुट जाता हूँ ।"[3] सुन्दरी उस अभिजात वर्ग की प्रतिनिधि है जो अपने पति को सौन्दर्याकर्षण और प्रणय के बंधन में बाँध रखना चाहती है । वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की अहं-बुद्धिवाली असहिष्णु नारी है ।

---

1. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश भूमिका - पृ: 8.
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य - महेन्द्र भटनागर - पृ: 81.
3. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश - पृ: 149.

"आधे अधूरे" (1969) में पारिवारिक विघटन का दस्तावेज़ है । इसमें मध्यवर्ग के परिवार की संघर्षपूर्ण कहानी नाटकीय ढंग से प्रस्तुत की गयी है । पारिवारिक विघटन की समस्या को नाटककार ने बडे ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है । इसके प्रमुख पात्र महेन्द्र और सावित्री के माध्यम से नाटककार ने भारतीय जन जीवन की नब्ज को पकडने का कार्य किया है । नाटक का नायक महेन्द्र एक असफल व्यापारी है । घर का संचालन पत्नी सावित्री की आमदनी पर निर्भर है । अस्तित्वबोध से ग्रस्त सावित्री अपने पति महेन्द्र को अधूरा समझती है । जीवन में कुछ भी हासिल न कर पाने की चिन्ता से पीडित सवित्री अपने लिये पूर्ण पुरुष की तलाश करती है । इस सिलसिले में वह विभिन्न पुरुषों से सम्बध स्थापित करती है लेकिन अन्त में थकी हारी वह कहती है - "सब के सब सब के सब एक से ! बिलकुल एक से । अलग अलग मुखौटे पर चेहरा सब का एक ही ।"[1] सावित्री और महेन्द्र की सम्बधहीनता की प्रतिक्रिया सारे परिवार में छा जाती है । परिवार का हर एक सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है । एक दूसरे के प्रति लगाव नहीं । बडी लडकी बिन्नी लडका अशोक और छोटी लडकी किन्नी सभी मनमाने ढंग से गुज़र रहे हैं । नाटक में महेन्द्र और सावित्री की दशा उस जहाज़ के पक्षी के समान हैं जो उडकर चले जाने की इच्छा रखते हुए भी कहीं जा नहीं पाते ।

"पैरतले की ज़मीन" (1975) राकेश का अंतिम नाटक है । इसको अपूर्ण छोडकर राकेश नाट्य क्षेत्र से सदा केलिए चले गये । बाद में कमलेश्वर ने इसको पूरा किया है । इसमें मृत्यू की विशेष परिस्थिति में भी अपनी अपनी स्वार्थता के पीछे भागनेवाले व्यक्तियों का चित्रण है । इसके पात्र अयूब और उसकी पत्नी सलमा, अब्दुल्ला, पंडित और झुनझुनवाला सभी मृत्यू बोध से ग्रस्त हैं ।

---

1. आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ: 109.

संक्षेप में हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं - "राजेश के नाटक आधुनिक हैं । यद्यपि उनमें रोमानी स्थितियों का आकलन है फिर भी अदम्य जिजीविषा के लिए जूझनेवाले आधुनिक औसत आदमी का परिचय ही हमें मिलता है ।"[1]

लक्ष्मी नारायण लाल

समकालीन हिन्दी नाटककारों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । उन्होंने लग भग चौबीस नाटकों की रचना की हैं । उनमें प्रमुख हैं "अंधा कुआ" (1956), "नाटक तोता मैना" (1962) , "रात-रानी" (1962) "दर्पण" (1963) "कर्फ्यू" (1972) "सूर्यमुख" (1968) "कलंकी" (1969) आदि । इनमें "सूर्यमुख" और कलंकी मिथक पर आधारित है । उनके सभी नाटक प्रयोग धर्मी हैं ।[2]

"अंधा कुआ" ग्रामीण परिवेश में पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत करता है । "रात-रानी" में पति पत्नी के बीच के द्वन्द्व के माध्यम से भौतिकवादी विचारधारा तथा आदर्शवादी विचारधारा के बीच उभरते संघर्ष का चित्रण है । "नाटक तोता मैना" लोकनाट्य परंपरा पर आधारित है । "मादा कैक्टस" प्रतीक नाटक है । इसमें स्त्री-पुरुष सम्बध के द्वन्द्व को उभारा गया है । "कर्फ्यू" यौनमान्यताओं के प्रति विद्रोह प्रकट करता है । इसमें नाटककार की यथार्थवादी विचारधारा प्रकट होती है । यह स्त्री पुरुष सम्बधों की एक नयी दिशा की ओर संकेत करता है ।

"सूर्यमुख" में मुक्त-प्रेम की समस्या को उठाया गया है । इसमें युद्ध के बाद की विघटित आस्थाहीन मनःस्थिति का चित्रण है । "प्राचीन पात्रों के ज़रिए आज के व्यक्ति की मनोग्रंथियों, कुण्ठाओं तथा दुर्बलताओं को पकडने की

---

1. अधूरेपन का एकसास - उॉ. मोहनन - पृः 109.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृः 183.

कोशिश इसमें की गयी है ।"[1] स्त्री पात्र वेणुरति में आज की खुली विद्रोही नारी के दर्शन प्राप्त होते हैं । "सूर्यफख में यथार्थवादी रंग सीमाओं को तोडकर संस्कृत और शेक्सपियर के कल्पनाशील रंगमंच को नया संस्कार देने की कोशिश की गयी है ।"[2]

"कलंकी" हिन्दू धर्म के कल्की अवतार से जुडा हुआ है । डॉ. लाल ने इसमें तांत्रिक साधना के प्रतीकों द्वारा आज के युग के राजनैतिक नेताओं का चित्रण किया है । इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कोई घटना नहीं केवल माहौल है ।

लाल के अन्य सभी नाटकों में कोई न कोई समकालीन समस्या उठायी गयी है । सभी नाटक प्रयोग के धरातल पर खरे उतरते हैं ।

रमेश बक्षी

अधुनातन नाट्य सर्जना के क्षेत्र में रमेश बक्षी का महत्वपूर्ण स्थान है । उनका नाटक "देवयानी का कहना" (१९७२) स्त्री-पुरुष सम्बधों पर एक नया दृष्टि-कोण प्रकट करता है । इसके प्रमुख पात्र हैं साधन और देवयानी । इनके चरित्र से वर्तमान युग में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आये परिवर्तनों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है । नाटक की देवयानी महाभारत की देवयानी की तरह हठी एवं जिद्दी है । वह प्रतिकूल परिस्थितियों से सघर्ष करनेवाली है । अंध परंपरा का विरोध करते हुए एक नये यथार्थ की तलाश करनेवाली विद्रोही है । उसके विद्रोह में मात्र पुरुष के प्रति निंदा का भाव नहीं बल्कि युग युगों से नारी वर्ग जिस भीषण यथार्थ से गुज़र रहा है उसके प्रति सख्त विरोध भी है । "उसका चारित्र्य एक नारी की परंपरागत प्रतिमा के विपरीत आधुनिक नारी का बिम्ब उभारता है ।"[3]

---

1. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - डॉ. रमेश गैतम - पृः 101.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृः 185.
3. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृः 453.

हमारे समाज में विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और पावन मानवीय संस्थान माना जाता था । परन्तु उसकी परिणति बडी हास्यास्पद हुई है वर्तमान युग में । नवशिक्षित धनी लोगों के बीच विवाह केवल शारीरिक तृप्ति का उपकरण हो गया है ।

प्रस्तुत नाटक के ज़रिए नाटककार रमेश बक्षी ने यह स्थापित किया है कि उच्च आदर्शों और परस्पर धारणाओं के अभाव में कभी स्त्री और पुरुष स्थाई रूप से एक इकाई होकर रह नहीं सकेंगे ।

रमेश बक्षी का दूसरा नाटक "तीसरा हाथी" (1975) प्रतीक नाटकों की परंपरा में एक महत्वपूर्ण प्रयोग है । इसमें अभिजात वर्ग के पिता के आतंक से पीडित युवा पीढी के संत्रास का चित्रण है । रोशन, मोहन, सोहन और विभा आदि पात्र अपने पिता के घर को घर ही नहीं मानते और उन्हें अपना घर कैद्रखाने के समान प्रतीत होता है । उनके मन में पिता के प्रति घृणा एवं आक्रोश का भाव विद्यमान है । पिता के आतंक की प्रतिक्रिया में विभा सोचती है - "जिसके पत्ते झरते नहीं, वह जड से सूख जाता है ।"[1]

पिता मुरारीलाल के आतंक से त्रस्त होकर पुत्र रोशन आत्महत्या करता है । पिता द्वारा पीटे जाने पर मोहन - पुंसत्वहीन हो जाता है । विभा घर से बाहर अपने प्रेमी अजित के साथ घूमती रहती है । यही मुरारीलाल के आतंक की प्रतिक्रिया है । नाटक में प्रतीकात्मता का प्रयोग जिस ढंग से हुआ है वह हिन्दी नाटक की नवीन उपलब्दि है । रंगमंच की दृष्टि से भी बक्षी के नाटक सफल हैं ।

---

1. तीसरा हाथी - रमेश बक्षी - पृ: 30.

मुद्राराक्षस

सामयिक यथार्थ को रंगमंचीय आयाम देनेवालों में मुद्रराक्षस का स्थान महत्वपूर्ण है । इनके नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बधों की विसंगति एवं विडंबनाअ का चित्रण है । "तिलचट्ठा"(1973) और "तेन्दुआ" (1978) उनके दो सशक्त प्रतीक नाटक हैं । "योउर्स फेथफुली" (1975) अर्थिक विडम्बना का यथार्थ चित्रण है

"तिलचट्ठा" पुंसत्वहीन मनुष्य की विसंगति को उभारता है । नाटक में देव ऐसे पति का प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी पत्नी के असंगत यौन सम्बधों का पता लग जाने पर भी उसके साथ जीने केलिए विवश है । "उसे अपनी पुंसत्वहीनता ही तिलचट्ठे के रूप में काटती रहती है ।"[1] केशी के ज़रिए ऐसी पत्नी की दयनीय दशा का चित्रण है जो पति को - पुंसत्वहीन जानकर भी उसके साथ साने केलिए बाध्य है । आधुनिक परिवेश में स्त्री-पुरुष सम्बधों की विडम्बना को चित्रित करना ही नाटककार का उद्देश्य है ।

"तेन्दुआ" में मानव की पाशविक वृत्ति का विश्लेषण है । मिसेस मदान और मिसेस रेणुराय इसके मुख्य पात्र हैं । मिसेस मदान अपनी आत्मतुष्टि केलिए एक गरीब माली को "टार्चर" की नयी नयी तकनीकों से यंत्रणा देती है । मिसेस रेणुराय भी मिसेस मदान के समान काम विकृति की शिकार हैं । यौन अतृप्ति के कारण उसमें काम विकृति उत्पन्न हो गयी है । माली उस गरीब जन-साधारण का प्रतीक है जो सुविधाभोगी वर्ग द्वारा मारा जाता है ।

"योअर्स फेथफुली" में नागरिक जीवन की विडम्बना का चित्रण है । अर्थिक दबाब के कारण नगर में जीनेवाले पति-पत्नी घर के बाहर काम करने केलिए विवश है । अर्थिक दबाब के कारण कंचनरूपा स्टेनोग्राफर का काम करती है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृ: 459.

दफ्तर का अफसर अनुशासन का भय देकर स्टेनो कंचनस्था के साथ कार्यालय में ही अनैतिक यौन सम्बध करता है । आत्मग्लनि से पीडित स्टेनो का पति अन्त में आत्महत्या करता है । नाटक के ज़रिए नाटककार शासन के क्षेत्र में व्याप्त मूल्य-च्युति की ओर अपना सख्त विद्रोह प्रकट करते हैं ।

धर्मवीर भारती

आधुनिक गीति-नाट्य परंपरा के नाटककारों में धर्मवीर भारती का शीर्ष स्थान है । हिन्दी गीति-नाट्य की शुरुआत जयशंकर प्रसाद के "करुणालय" से ही हो जाती है ।[1] उनके पश्चात इस परंपरा के रचनाकारों में श्रेष्ठ हैं उदयशंकर भट्ट, सुमित्रनंदन पंत और गिरिजाकुमार माथुर ।

धर्मवीर भारती की नाट्य रचना की शुरुआत एकांकी से हुई । उनके अमर एकांकी हैं - "नदी प्यासी थी" , "नीलझील" , "आवाज़ का नीलाम" "संगमरमर पर एक रात" और "सृष्टि का आखिरी आदमी" । "गुनाहों का देवता" और "सूरज का सातवाँ घोडा" उनके प्रासिद्ध उपन्यास हैं । "बंद गली का आखिरी मकान" कथासंग्रह , "अंधा युग" और "कनुप्रिया" गीति काव्य हैं ।

"अंधायुग" (1954) अन्य काव्य नाटकों की परंपरा से हटकर हिन्दी-नाट्य को प्रयोग की नयी दिशाएं और आयाम देता है । यह हिन्दी का पहला काव्य नाटक है जिसमें नाटकीय सम्प्रेषण केलिए पद्य को माध्यम बनाया गया है ।[2]

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 205.
2. वही ।

"अंधायुग" ऐतिहासिक, पौराणिक कथानक पर आधृत आधुनिक भाव बोध और संवेदना की रचना है । धर्मवीर भारती की मेधा और प्रतिभा का यह सुन्दरतम निदर्शन है ।[1] मिथक का आवरण इसका वैशिष्ट्य है । इसमें घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा, अविवेक आदि मानसिक भावनाओं का मूर्त रूप प्रस्तुत हुआ है । "सारा कथानक सुनियोजित, गतिशील, प्रभावपूर्ण, कल्पना की क्षमता से गूँथा हुआ है ।[2] कथा के माध्यम से नाटककार ने युद्ध जन्य विकराल परि-स्थितियों का चित्रण किया है । इसके सभी पात्र आज के नये भाव-बोध से जुड़े हैं ।

अंधायुग में एक नवीन रंगमंच की तलाश है । इसकेलिए भारती ने संस्कृत, पाश्चात्य, लोक-नाट्य और पारसी रंगमंच के रंग पद्धतियों को आधार बनाया है । नाटक का आरंभ मंगलाचरण और प्रस्तावना से होता है जो संस्कृत नाट्य से प्रेरित लगता है । हर अंक के शुरु और अन्त में कथा-गायन रखा गया है ।

सुरेन्द्रवर्मा

ऐतिहासिक पौराणिक परिवेश में आधुनिक संवेदनाओं का चित्रण सुरेन्द्रवर्मा के नाटकों की प्रमुख विशेषता है । उनका पहला नाटक "द्रौपदी" (1970) नाट्य प्रयोग की दृष्टि से नवीन है । इसमें पौराणिक कथा के माध्यम से आधुनिक स्त्री पुरुष सम्बधों की समस्या को उठाया गया है । मनमोहन सुरेखा, नंदा, अंजना, अनिल आदि इसके प्रमुख पात्र हैं । इन पात्रों के माध्यम से नाटककार ने आधुनिक समाज व्यवस्था पर तीखा व्यग्य किया है । "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" "सेतुबंध" "नायक खलनाय, विदूषक" और "आठवाँ सर्ग" उनके अन्य श्रेष्ठ रचनाएं हैं । सेतुबंध में अस्तित्व की तलाश है । "नायक खलनायक, विदूषक"

---

1. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - सुरेश गौतम - भूमिका ।
2. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ: 194.

में मानवीय विवशता का प्रश्न उभारा गया है । "सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक" और "आठवाँ सर्ग" में समसामयिक जीवन सदर्भों की अभिव्यक्ति है ।

"सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" नाटक कथा की नवीनता के कारण अन्य नाटकों से श्रेष्ठ हैं । "यह व्यक्ति चेतना की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को झंकृत करने का उपक्रम प्रस्तुत करता है ।"[1] इसमें ओक्काक के ज़रिए फंसत्वहीन पुरूष की विसंगति और उसके अन्तरिक संघर्ष का चित्रण मर्मिक ढंग से किया गया है । ओक्काक और शीलवती के सम्बधों में आधुनिक स्त्री-पुरूष सम्बधों की विडम्बना निहित है ।

भारतेन्दु युग से लेकर अधुनातन नाटककारों तक के विवेचन से यह बात विविद हो जाती है कि नाटक हर युग में सामाजिक जीवन के सन्देशों को आत्मसात करके आगे बढे हैं । भारतेन्दु ने युगीन माँग को महसूस करते हुए नाटक को अपना रचना क्षेत्र बना लिया था । वैसे ही प्रसाद के नाटकों में यद्यपि छाया-वादी वैयक्तिकता एवं समृद्ध संस्कृत रंगमंच का बढावा है तो भी युग यथार्थ से विछिन्न नहीं । आगे चलकर लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश जगदीशचन्द्र माथुर धर्मवीर भारती सुरेन्द्र वर्मा जैसे आधुनिक एवं अधुनातन रंगकर्मियों ने युग यथार्थ से भिन्न किसी रचना क्षेत्र को अपनाया नहीं । संक्षेप में समकालीन यथार्थ के विभिन्न आयामों को अपने विस्तृत कलेवर में समेटते हुए साहित्य आगे बढ रहा है । हिन्दी नाटक साहित्य भी इस सिलसिले में निःसन्देह आगे बढ गये हैं । आगे के अध्यायों में इसका विस्तृत विवेचन किया जाएगा ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृ: 422.

दूसरा अध्याय

युग की प्रवृत्तियाँ

युग की प्रवृत्तियाँ

युग जीवन के धडकनों को आत्मसात करते हुए ही साहित्य तेज़ रफतार के आगे बढता है । साहित्य की प्रवृत्तियों को स्थापित करने में युगजीवन की विभिन्न परिस्थितियों का बहुत बडा हाथ अवश्य है । हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में स्वातंत्र्योत्तर परिस्थिति की विशेष भूमिका है । उसने भारतीय सामाजिक जीवन, परिवेश, संस्कृति और मूल्यों को बहुत अधिक प्रभावित किया है । स्वाधीनता के बाद अनेक ऐसी घटनाएं घटित हुईं जिन्होंने व्यक्ति को अपने परंपरागत धरातल से दूर कुछ सोचने समझने को बाध्य किया । स्वातंत्र्योत्तर वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मानव को वैचारिक द्वन्द्व की स्थिति में ला खडा किया । भौतिक सुखों की लालसा ने सामाजिक सम्बधों को शिथिल बना दिया । प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुख प्राप्त करने केलिए क्रियाशील हो गया । "पिछले महायुद्ध और परवर्ती वर्ष के वैज्ञानिक विकास और अनुभव ने न केवल मानव भविष्य के प्रश्न को बडा तात्कालिक और महत्वपूर्ण बना दिया है, बल्कि संसार भर में नि:सन्देह अलग अलग स्तरों पर मनुष्य के व्यवहार और पारस्परिक सम्बधों की प्रत्येक धारणा को प्रभावित किया है । आज राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सभी प्रकार की मान्यताएँ जैसे पुन: परीक्षण के खौलते कढाव में आ पडी हैं । विशेषकर जीवन पर निरंतर बढते हुए यांत्रिकता के दबाव ने मनुष्य के स्वा: स्फूर्त सहज जीवन को कठिन बना दिया है ।"[1]

---

1. बदलते परिप्रेक्ष्य - नेमीचन्द्र जैन - पृ: 47.

आज का व्यक्ति आत्मकेन्द्रित, अपने आप में लीन, जीवन संघर्ष के प्रति जागरूक दिखाई देता है । वह अपने आप को असहाय व असमर्थ पाता है । उसके सामने भविष्य अनिश्चित है । फिर भी जीने की लालसा है । फलस्वरूप वह समाज से अलग आत्मसीमित बन जाता है, अकेला हो जाता है । स्वाधीनता के बाद जन मानस का सारा स्वप्न टूट गया । "स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात अपने अपने परिवेश में शहर और गाँव दोनों के सम्बध बदले हैं, मूल्य टूटे हैं, संक्रान्तियाँ आई हैं , दृष्टियाँ बदली हैं, बौद्धिकता ने अनेक विश्वास तोडे हैं और परिस्थितियों तथा जीवन पद्धतियों में काफी अन्तर आया है ।"[1] अर्थाभाव के कारण जनसाधारण की आशाएँ निराशा में परिणित हो गयी हैं । फलस्वरूप निरर्थकता का बोध हुआ - "निराशा के वातावरण में व्यक्ति स्थितिजाल में इस तरह उलझ गया कि उसे अपने आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूपों से बडी वेदना होती है । उस से मुक्ति का हर प्रयास उसे उलझाता रहा, इसीलिए उसकी निष्क्रियता बढती गयी ।"[2] अपने में सिमटकर जीने के अलावा उसके सामने और कोई रास्ता ही नहीं रह गया ।

आज का व्यक्ति इतना दुर्बल-असहाय है कि वह संघर्ष से दूर भागने या बचने की चेष्टा करता है । उसे कभी कभी अपने अस्तित्व के संबध में भी सन्देह होने लगता है । इसके मूल में समकालीन समाजिक, राजनैतिक एवं औद्योतिक क्रान्ति के कारण विकसित यांत्रिकता और आध्यात्मिक जीवन के प्रति अनास्था है । उसका जीवन अनेक समस्याओं से पीडित रहा है । सामाजिक परिवेश ने व्यक्ति के भीतर को ज़्यादा तोडा है । फलस्वरूप जीवनमुल्य, आस्था, सदाचार विश्वास आदि खंडित हो गये । व्यक्ति के भीतर विक्षोभ, अनास्था एवं आक्रोश का भाव पैदा हुआ । साथ ही साथ महानगरीय सभ्यता ने उसके दिल को संकुचित बना दिया है । करुणा, स्नेह आदि भाव उसके चित से सदा केलिए अलग हो गये ।

---

1. हिन्दी वाड.मय बीसवीं शती - डॉ. नगेन्द्र - पृ: 263.
2. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक - डॉ. श्याम शर्मा - पृ: 63.

सामाजिक परिवेश

उन्नीस सौ पचास के आसपास के भारतीय परिवेश ने सम्पूर्ण समाजिक जीवन पद्धति, रहन-सहन, आचार विचार को बदल दिया है । स्वतंत्रता सग्राम अभी अभी समाप्त हुआ था । "स्वतंत्रता सग्राम, भारत-पाक विभाजन, अबादी की उदला-बदली, नारी मुक्ति आन्दोलन, संविधान निर्माण, पंचवर्षीय योजनाओं, सहशिक्षा नारी शिक्षा, पाश्चात्य विचारधारा एवं प्रभाव से विघटन आदि अनेकानेक परिस्थितियों ने एक के बाद एक करके भारतीय समाज पर ऐसे प्रहार किये कि अपनी समस्त परंपराओं एवं विश्वासों को तोडते हुए भारतीय समाज की स्थिति अंधेरे में भटके हुए व्यक्ति की सी हो गयी ।"[1] आदर्श समझी जानेवाली मान्यताएँ निरर्थक साबित हुई । इसकी प्रतिक्रियाएँ स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हैं विशेषकर नाट्य साहित्य में।साहित्य की अन्य विधाओं - कविता, कहानी, उपन्यास आदि की अपेक्षा इस नयी मानसिकता का अधिक सशक्त संप्रेषण हुआ है । साहित्यकारों ने समष्टि के स्थान पर व्यष्टि को प्रधानता दी है । नाट्य साहित्य में जीवन को बेचैन करनेवाली समस्याओं एवं चुनौतियों को नये सन्दर्भ में प्रस्तुत करना प्रारंभ हुआ । इस समय के नाटकों में जीवन सन्दर्भ समाजिक परिवेश से सीधे ले लिये गये जिनमें पारिवारिक विघटन एवं टूटते हुए मानवीय सम्बधों की व्याख्या है ।

राजनैतिक परिवेश

स्वतंत्रता के पश्चात भारत के राजनैतिक परिवेश ने आज के जीवन सन्दर्भों को बहुत अधिक प्रभावित किया है । इसका प्रभाव सम्पूर्ण मानवीय व्यापारों में प्रतिबिंबित हुआ है । साहित्य और कला इससे सर्वधिक प्रभावित हुई । नाटक

---

1. साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी - डॉ. किरण बाला अरोडा - पृ:85.

एक जीवन्त प्रवाह है जो निरंतर बढता रहता है । इसलिए इन परिवर्तनों का प्रभाव नाटक में अधिक दिखाई पडता है । नाटकों में राजनैतिक विषमता, दबाव और मानवीय पीडा को स्वर दिया गया - "राजनैतिक अनेक विसंगतियाँ, छदम भरे झूठे नारे और भ्रष्टाचार एवं अनैतिक कर्म का यथार्थ स्वरूप हिन्दी नाटकों में देखने को मिलता है ।"[1]

स्वतंत्रता के पहले राजनीति का जो स्वरूप था वह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद न रहा । राजनीति दूषित और मूल्यहीन हो गयी । उसने व्यक्ति के जीवन को विघटित किया है । राजनीति ने केवल समस्याओं को पहचानने की कोशिश ही नहीं की अपितु स्वयं नई नई समस्याएँ उत्पन्न कर जीवन मूल्यों में बिखराव उत्पन्न किया है । "आज का युग राजनीतिप्रधान युग है डमोक्रेसी के स्थान पर माबोक्रेसी का युग है, और दुर्भाग्यवश स्वतंत्र भारत की राजनीति भ्रष्ट हो गयी । आज महात्मा गाँधी का राजनैतिक आदर्श तो रह नहीं गया, इसके स्थान पर बहती गंगा में हाथ धाने की प्रवृत्ति बढ गयी है ।"[2]

नैतिकता का युग अब समाप्त हो गया है । उसके स्थान पर अवसरवादिता, स्वार्थपरता, धनलोलुपता, पदलोलुपता, भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता को प्रश्रय मिला है । "देश में बढती हुई हिंसा, चारित्रिक एवं नैतिक ढढता का अभाव, अनुशासनहीनता, भाषावाद, जातिवाद, प्रान्तीयता, बेरोज़गारी, बेकारी, महंगाई आदि ने पुरानी आस्थाओं, विश्वासों और आदर्शों की जड हिला दी ।"[3]

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक - डॉ. श्याम शर्मा - पृ: 68.
2. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ.लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ: 45.
3. वही - पृ: 51.

प्रगति के नाम पर जो योजनाएँ बनायी गयीं, अधिकांश रूप से कागज़ों, फइलों तक ही सीमित रह गयीं । सफलता के स्थान पर असफलता कायम रह गयी । अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति ने जीवन की प्रक्रिया में विकृति एवं विषमता भर दी है । राजनैतिक परिवेश ने नैतिक मूल्यों का ह्रास किया । आज के नाटककार इन राजनैतिक परिवेशों से प्रभावित होकर नाटक लिखने लगे हैं । डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक "मिस्टर अभिमन्यु", ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "शुतुर्मुर्ग" (1968) लक्ष्मीकान्त वर्मा का "रोशनी एक नदी" (1974), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का "बकरी" (1974), शंकरशेष का "एक और द्रोणाचार्य" (1978), जगदीशचन्द्र माथुर का "पहला राजा" (1969) आदि ऐसी नाट्य कृतियों हैं जिनमें राजनैतिक विकृतियों का सुन्दर चित्रण है । इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा ।

व्यक्ति और परिवेश

व्यक्ति का चित्रण साहित्य में सृजन के आरंभिक युग से ही होता रहा है ।[1] व्यक्ति-अस्तित्व को लेकर विपुल साहित्य लिखा गया है । परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति की चिन्ता में परिवर्तन होता रहता है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश ने सब से अधिक व्यक्ति को प्रभावित किया है । आज उसके चारों ओर हलचल, हत्याएँ, क्रूरताएँ, आपा-धापी, अन्याय और असन्तोष ही दिखाई पडते हैं । व्यक्ति सामाजिक मज़बूरियों से घिरे रहने के कारण कुछ भी कर पाने में असमर्थ है । अभाव एवं निराशा ने उसे अलगाव की जिन्दगी जीने केलिए विवश किया है । महानगरीय सभ्यता ने उसको स्वार्थ चित्त बना दिया है । उसके जीवन में, आस्था, अविश्वास, अस्वीकृति का बोध

---

1. समकालीन हिन्दी नाटक चेतना के आयाम - सरला गुप्ता भूपेन्द्र - पृः 42.

अधिक गहराता गया है । आज व्यक्ति का आदर उसके धन एवं ओहदे के कारण होता है । ऐसे परिवेश में व्यक्ति निर्माता की अपेक्षा सुविधा भोगी बन जाता है आज के व्यक्ति के सामने पुराने युग की समस्याएँ न रह कर नए प्रकार की समस्याएँ आ रही हैं, जिनका समाधान व्यक्ति के पास ही हो सकता है, समाज के पास नहीं ।[1] आज व्यक्ति अस्तित्व की चिन्ता से ग्रस्त अनचाहा जीवन बिता रहा है

व्यक्ति और परिवार

स्वाधीनता के बाद भारतीय परिवार भी विघटन की ओर बढ रहा है ।[2] आज परिवार का स्वरूप एकदम बदल गया है । परंपरा एवं नवीनता के द्वन्द्व, आर्थिक वैषम्य, पीढी संघर्ष, वैचारिक मतभेद एवं मानवीय मूल्यों के ह्रास ने संयुक्त परिवार पद्धति पर भीषण प्रहार किया है । फलस्वरूप संयुक्त परिवारों के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी है । आधुनिकता का मोह युवक युवती को अपना जीवन साथी स्वंय तलाशेन की प्रेरणा देता है । फलस्वरूप अपसी मन मुटाव वैचारिक संर्घष इतना अधिक बढ जाता है कि आज संयुक्त परिवार के आदर्श को तिलांजलि देकर अलग घर बसाने के अलावा व्यक्ति के पास और कोई चारा नहीं है ।

टूटते हुए परिवार की विश्रृखलता का एक और कारण रोज़गार का अभाव भी है । व्यक्ति नौकरी की तलाश में महानगर की ओर आकर्षित होता है जहाँ उसे अधिक भटकना पडता है । फलस्वरूप मानवीय सम्बधों में बिखराव हर परिवार में दिखायी देता है । अर्थिक विषमता के कारण पत्नी को भी नौकरी करनी पडती है । इसीलिए पति-पत्नी के बीच मानसिक तनाव उत्पन्न होता है । ऐसे परिवार का यथार्थ चित्रण समकालीन हिन्दी नाटकों में पर्याप्त मात्रा में हुआ है

---

1. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाज शास्त्रीय अध्ययन - डॉ. लाजपतराय गुप्त - पृ: 30.
2. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा - पृ: 89.

घुटनभरा जीवन

बदलते परिवेश में पति-पत्नी एक साथ नौकरी करने पर भी आर्थिक संकट मध्यवर्गीय परिवार को सालता रहता है । भौतिक सुखों की लालसा की पूर्ति के अभाव में जीवन खलने लगा है । फलस्वरूप पति-पत्नी के अपसी सम्बधों में उदासीनता छा जाती है । दोनों का जीवन घुटन से परिपूर्ण है । वे एक प्रकार के यान्त्रिक जीवन बिता रहे हैं । वे मुक्ति केलिए छटपटा रहे हैं और जब मुक्ति की आशा की किरण दिखाई नहीं पडती तो वे और अधिक दिशा-भ्रमित स्थिति में पहुँच जाते हैं । "अतः वे अर्न्तद्वन्द्वों का सामना करतत हुआ आगे बढने के मार्ग की तलाश में हैं वे अपने या किसी और के बनाये हुए आवर्तों में फसते हुए उन्हें तोडते तो हैं लेकिन पुनः उन्हीं में फंस जाते हैं । यही उनकी नियति है ।"[1] फलतः उसके जीवन में एक घुटन, रिक्तता, विक्षोभ एवं आकुलता के दर्शन होते हैं । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में इसप्रकार के दाम्पत्य जीवन बिताने केलिए अभिशप्त परिवार की दर्दभरी कहानी दर्शनीय है । मोहन राकेश का नाटक "आधे-अधूरे" लक्ष्मीनारायण लाल का "दर्पण", "आधा कुआ", "रात-रानी", "मन्नु भण्डारी का बिना दीवारों के घर" , रमेश बक्षी का "देवयानी का कहना" सुरेन्द्रवर्मा का "तीसरा हाथी", "सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक" आदि इसके उदाहरण हैं ।

नारी जागरण

स्वतंत्रता के पश्चात सारा वातावरण यद्यपि अंधकार से आवृत है तथापि बीच बीच में प्रकाश की कुछ क्षीण रेखाएँ भी दृष्टिगत होती हैं । एक ऐसी प्रकाश रेखा है आधुनिक नारी का जागरण । जो नारी पहले पिछडी और पुरुष की

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा - पृ: 86-87.

अनुगामिनी रही उसमें पुरुष के समान अधिकार हर क्षेत्र में प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई । शिक्षा प्राप्ति की सुविधा ने उसकी इस आकांक्षा को बल दिया । मताधिकार की प्राप्ति ने स्त्री को अधिक स्वत्व संपन्न बनाया । अतः राजनैतिक क्षेत्र में नारी का नया रूप प्रकट होने लगा । परिवार की आर्थिक स्थिति को संभालने केलिए वह पुरुष के समान काम करने लगी । इस साहस ने उसे अपने पैरों पर खडे होने केलिए बल प्रदान किया । उसमें आत्मगौरव और स्वभिमान के भावों का विकास होने लगा । लेकिन नारी का यह नव्य रूप समाज को अच्छा नहीं लगा । फलस्वरूप उसे विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पडा । कटु अनुभवों ने उसमें चिडचिडापन और झुंझलाहट उत्पन्न की । दाम्पत्य जीवन में मनमुटाव उत्पन्न होने लगा । आधुनिक हिन्दी नाटकों में नारी के इस नये रूप के विविध आयाम चित्रित हुए हैं ।

टूटते सम्बध

आधुनिकता और आधुनिक भाव-बोध वैज्ञानिक युग की देन है । स्वतंत्रता के पश्चात विज्ञान की उन्नति पर्याप्त मात्र में हुई । इसके कारण औद्योगीकरण और नगरीकरण में विकास होने लगा है । इसके फलस्वरूप वैयक्तिक जीवन में परिवर्तन आ गया है । व्यक्ति का जीवन इतना व्यस्त है कि उसे बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यों पर अपना ध्यान देने का मौका ही नहीं मिलता । जीवन की व्यस्तता पति-पत्नी के मधुर सम्बधों में तनाव उत्पन्न करती है । एक ही परिवार में रहते हुए भी उसके विभिन्न सदस्यों में बेगानेपन और अजनबीपन का अनुभव होने लगा है । आधुनिक मनुष्य अपने परिवार से कट जाने का बोध करता है । "अपने चारों ओर के इस वातावरण से विक्षुब्ध होकर हिन्दी के साहित्यकार के हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई है । मानव मूल्य, नैतिकता, अनैतिकता, वैज्ञानिक और

टेकनालोजिकल प्रगति के बीच, भूख, नवीन परिस्थितियों में यौन सम्बध आदि प्रश्नों के विविध पक्षों के वह समाधान ढूँढना चाहता है । हिन्दी के आधुनिक उपन्यास, कहानी, नाटक कविताएँ आदि इस प्रक्रिया के प्रमाण हैं ।"[1] विषय, शिल्प, भाषा आदि सभी में आज नयापन है, विविधता है ।

परंपरा और आधुनिकता का संघर्ष

आधुनिकता जीवन के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण है । "आधुनिकता एक तरह की रचनात्मक स्थिति है जिसका अपना दर्शन और जिसकी अपनी निजी वैचारिकता है ।"[2] परंपरा आधुनिकता की विरोधी नहीं, अपितु आधुनिकता रूढियों का विरोध करती है । जब व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियों में, संपूर्ण व्यक्तित्व में परिवर्तन होता है तभी आधुनिकता का जन्म होता है । हमें आधुनिकता का बोध स्वाधीनता के बाद ही हुआ ।

आधुनिकता ने हमारी परंपरागत मान्यताओं एवं जीवन के मूल्यों के विरुद्ध व्यक्ति में अस्तित्व का बोध जगाकर उसे संघर्ष केलिए खडा किया ।[3] आज परंपरा एवं आधुनिकता की टकराहट से व्यक्ति अनिर्णय एवं अनिश्चय की स्थिति में विश्रृंखलित दिखाई देता है । आधुनिकता की विडम्बना यह है कि उसने हमें दोहरा व्यक्तित्व दे दिया है ।[4] घर पर हम घोर धार्मिक, परंपरावादी, नैतिकतावादी एवं रूढिवादी हैं, पर घर से बाहर हम प्रगतिशील हैं, अछूतों के साथ समानता स्थापित करने की बातें करते हैं । इसीलिए अन्तर्विरोध, कृत्रिमता, मूल्यहीनता,

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ.लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृः 77.
2. आधुनिकता और मोहन राकेश - डॉ. ऊर्मिला मिश्र - पृः ।.
3. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक - डॉ.श्लाम शर्मा - पृः 71.
4. वही - पृः 72.

विघटन एवं निरर्थकता का बोध जन्म लेता है । आधुनिकता ने व्यक्ति को आत्म-निर्वासित जीवन जीने को विवश किया है । आधुनिकता ने मनुष्य का सुख तो बढाया है, लेकिन उसकी भीतरी शांति घट गयी है । बल, बुद्धि, अहंकार की वृद्धि तो हुई, मगर करुणा और विनम्रता घट गयी । परंपरा और आधुनिकता का यह संघर्ष स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी नाटकों में जितना है उतना और साहित्यिक विधा में नहीं । इसका यह अर्थ नहीं कि कविता कहानी आदि में आधुनिकता की प्रवृत्ति नहीं है ।

आधुनिक परिवेश और कविता

आज की कविता स्वयं आधुनिकता का परिचय देती है । "आधुनिक कविता मशीनरी और सभ्यता के विकास से उत्पन्न अब, घुटन, झुंझलाहट से युक्त है ।"[1] आधुनिक कवि परंपरागत काव्य की आत्मा को परिवर्तित कर नये शिल्प, रूप तथा बिब्ब आदि से युक्त नयी कविता का सृजन करने लगा है । बुद्धिवाद, व्यंग्योक्ति, वैचारिक संश्लिष्टता, सांकेतिकता, दुर्बोधता, रूखापन, अनास्था अजनबीपन आदि आधुनिक कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं ।[2] अज्ञेय, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, कुंवरनारायण, धुमिल की कविताएँ इसके निदर्शन हैं ।

आधुनिक कविता का आरंभ हम प्रायः उस समय से मान सकते हैं जब 1943 में "तारसप्तक" नामक काव्य संग्रह का प्रकाशन श्री अज्ञेय के सम्पादन में हुआ ।[3] इस संग्रह में हिन्दी के सात कवियों की रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं । अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भरतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और नेमिचन्द्र जैन "तारसप्तक" के कवि हैं । इनके अतिरिक्त अन्य प्रगतिवादी और छायावादी कवि नागार्जुन, रांगेय राघव, बालकृष्ण राव, डॉ. देवराज,

---

1. आधुनिकता और मोहन राकेश - डॉ. ऊर्मिला मिश्र - पृः 29.
2. वही ।
3. हिन्दी साहित्य विवेचन - योगेन्द्रनाथ शर्मा "मधुप" - पृः 263.

शिवमंगल सिंह सुमन, शमशेर, त्रिलोचन आदि भी नयी कविता के प्रवर्तक है ।[1]

नयी पीढी के अनेक कवि जैसे धर्मवीर भारती, नरेश मेहत्ता, सर्वेश्वर, दुष्यन्त कुमार, विजयदेवनारायणसाही, जगदीशगुप्त, कुंवरनारायण, लक्ष्मीकान्त वर्मा, राजेन्द्र किशोर, राजेन्द्र प्रसाद, रामदरस मिश्र आदि भी नयी कविता के प्रवर्तक होकर सामने आये ।

पीडा बोध, स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म, महान के स्थान पर लघु की स्थापना, आधुनिक भावबोध, अनुभूति की सच्चाई, मुल्यांकन के नये मानदण्डों की स्थापना, लोकजीवन से संपृक्ति, शिल्पगत सजगता आदि आधुनिक कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं ।[2]

प्रतीक विधान आधुनिक कविता का एक प्रमुख लक्षण है । धर्मवीर भारती, नरेश मेहत्ता, कुंवर नारायण, लक्ष्मी कान्त वर्मा आदि की कविताएँ इसके उदाहरण हैं -

मैं
रथका टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षोहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिट जाय ।[3]

---

1. हिन्दी वाड्.मय बीसवीं शती - सं. डॉ. नगेन्द्र - पृ: 135.
2. छायावादोत्तर हिन्दी कविता प्रमुख प्रवृत्तियाँ - डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय - पृ: 124-125.
3. सात गीत वर्ष - धर्मवीर भारती - पृ: 79.

यहाँ टूटा हुआ पहिया आज के परिवेश में मनुष्य के अकेलापन, असहाय एवं दलित्व बोध को व्यजित करता है । बदलते परिवेश में जीनेवाले व्यक्ति अत्यन्त पीडित हैं । श्रीकान्त वर्मा, वेणुगोपाल, लीलाधर जगूडी आदि की कविताओं में आज के दमघोटूँ परिस्थितियों में जीनेवाले मनुष्य की ऊब, घुटन, संताप एवं संत्रास का मार्मिक चित्रण है । शहरी व्यक्ति का जीवन निरर्थक बीत रहा है । शहरी जीवन की निरर्थकता का चित्रण धर्मवीर भारती के "अंधायुग" में सर्वत्र परिलक्षित है -

"इसलिए सूने गलियारे में
निरुद्देश्य
चलते हम रहे सदा
दायें से बाये
और बायें से दाये' ।"[1]

नयी कविता आज नयी नयी प्रवृत्तियों को लेकर चह रही है । यथार्थवाद की प्रवृत्ति आज नयी कविता में दिखायी पडती है । अज्ञेय, गजानन-मुक्तिबोध कुंअर नारायण, सर्वेश्वरदयाल आदि की कविताएँ इसके अर्न्गत आती हैं । इसकी दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति है । इसमें आत्मानुभूति की समस्त संवेदना व्यंजित है । माचवे और मदनवात्सायन की कृतियाँ इस कोटि में रखी जा सकती हैं । वर्तमान कटुताओं और विषमताओं के प्रति व्यग्यपूर्ण भावना नयी कविता की तीसरी प्रवृत्ति है । "लक्ष्मीकान्त वर्मा" और भवानीप्रसाद मिश्र की कक्तिाएँ इसके उदाहरण हैं । चौथी प्रमुख प्रवृत्ति आधुनिकता और समसामयिकता का प्रतिनिधित्व है । गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्रजैन और धर्मवीर भारती आदि इसी कोटि में आते हैं ।[2]

---

1. अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ: 25.
2. हिन्दी साहित्य विवेचन - योगेन्द्रनाथ शर्मा "मधुप" - पृ: 239-40.

मुक्तिबोध का काव्य "चाँदका मुँह टेढा है, अंधेरे में" में अस्तित्व की पहचान एवं अन्वेषण की स्थिति की झलक है -

"जितना मैं लोगों की बात्तों को पारकर
बढता हूँ आगे
उतना ही पीछे रहता हूँ अकेला ।"[1]

इसमें "मैं" के आत्मनिर्वासन की स्थिति में आधुनिकता की अभिव्यक्ति है ।

राजकमल चौधरी, रघुवीर सहाय, धूमिल, विनोद कुमार, मणिमधुकर आदि के काव्य समकालीनता के आगे बढकर प्रतिबद्धता के काव्य के रूप में सामने आते हैं । ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक कविता ने परंपरागत काव्य स्वरूप आन्तरिक अनुशासन, शिल्पबुनावट, भाषा प्रतीक आदि को नयी कविता के माध्यम से तोडा है । नयी कविता में आत्मसघर्षों और द्वन्द्वों से पीडित नवमानव की मनःस्थिति का चित्रण हुआ है ।

आधुनिक परिवेश और कहानी

नयी कविता के माध्यम से ही आधुनिकता का दौर हिन्दी कहानी में आया । आधुनिक कहानी जीवन के नये बोध से जुडी है । इसमें स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की सच्चाई, नवीनता की प्रक्रिया और सम्बधों की तलाश की संवेदना देखने को मिलती है । कहानी में आधुनिकता का प्रारंभ प्रेमचन्द की "कफन" कहानी से मानते हैं[2] क्योंकि इस से परंपरावादी कहानी का ढाँचा कुछ हद तक टूट जाता है । लेकिन सच्चे अर्थ में सन् 1950 से आधुनिकतावादी दृष्टिकोण की कहानियों का प्रारंभ होता है ।

---

1. चांद का मुह टेढा अंधेरे में - मुक्तिबोध - पृ: 307
2. आधुनिकता और मोहन राकेश - ऊर्मिला मिश्र - पृ: 35.

आज की कहानी में आधुनिक जीवन के विभिन्न पहलू देखे जा सकते हैं - "मोहन राकेश की "मिस पाल", कमलेश्वर की "खोई हुई दिशाएँ", नरेश मेहत्ता की "अनबीता अतीत" , राजेन्द्र यादव की "टूटन" , अमरकान्त की "ज़िन्दगी और जोंक" निर्मल वर्मा की "लंदन की एक रात" फणीश्वर नाथ रेणु की "तीसरी कसम्" भीष्म साहनी की "चीफ की दावत" , मन्नु भण्डारी की "आकाश के आइने में" उषा प्रियंवदा की "जिन्दगी और गुलाब के फूल" रवीन्द्र कालिया की "बडे शहर की आदमी" , ज्ञानरंजन की "फेन्स के इधर और उधर" आदि कहानियों में द्वितीत महायुद्धोत्तर जीवन मुखरित है ।"[1]

पुराने सम्बधों में नये सम्बधों की तलाश, अस्तित्व संकट के बोध की अभिव्यक्ति, अनुपस्थिति में उपस्थिति की परख, यथार्थ को जीवन सन्दर्भों में ढूँढना, सम्बधों का विघटन, विसंगति, आत्मनिर्वासन, अकेलापन की स्थिति का बोध आदि को आधुनिक कहानिकारों ने कथ्य के रूप में स्वीकार किया है ।

नयी कहानी

आधुनिक कहानी विशेषकर 1950 के बाद लिखी हुई कहानी "नयी कहानी" नाम से प्रचलित है । यह बदले हुए सामाजिक जीवन की पहचान की कहानी है । नयी कहानी जिए हुए जीवन सत्य पर अधिक बल देती है ।[2] इसने स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात के भारतीय यथार्थ को अनुभव के स्तर पर अभिव्यक्त किया है । इसमें भारत का क्रूर यथार्थ , स्वार्थी व्यवस्था, न्याय, शासन, समाज की भयानक विसंगतियाँ और विषमताएँ, असुरक्षा, बेकारी, अकेलापन आदि का चित्रण है ।

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ: 144.
2. हिन्दी वाड.मय बीसवीं शती - सम्पा: डॉ. नगेन्द्र - पृ: 260.

आज का कहानीकार आज के पाठकों केलिए लिखता है जो स्वयं सर्जक के साथ जीवन की जटिलताओं को समझने और सुलझाने में सचेष्ट हैं । वह अपने अनुभव क्षेत्र की तीखी चेतना को चित्रित करता है । मार्कण्डेय , लक्ष्मी-नारायण लाल, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र अवस्थी, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव , कमलेश्वर, मन्नु भण्डारी, उषा प्रियंवदा, भीष्मसाहनी आदि इसी कोटि के कहानीकार हैं ।[1]

साठ के बाद लिखी हुई कहानियों में आज की ज़िन्दगी की समर्थ अभिव्यक्ति है । दूधनाथसिंह , महीपसिंह , सुरेश सिन्हा , ज्ञानरंजन किशोर, भीमसेनत्यागी आदि इस समय के कहानीकारों में प्रमुख हैं । आज की जिन्दगी को रूपायित करने केलिए ये नये कहानीकार सक्रिय हैं ।

नयी कहानी ने भाषा की जडता को तोडा है । व्यक्तिगत और किताबी भाषा से अपने को पृथक कर, समय के विस्तार में जी रहे मनुष्य की बोली में ही उसने नये अर्थ की तलाश की । प्रदेशों अंचलों, महानगरों में बिखरी और चारों ओर आबहवा में समाई हुई भाषा को अन्वेषित कर उसे नयी अर्थगर्भिति देने और संचेतना से संपन्न करने का आवश्यक कार्य स्वतंत्रयोत्तर कहानी ने ही पूर्ण किया ।[2] निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की अभातीत सफलता हुई है । उसने अपनी परंपरागत शैली में परिवर्तन उपस्थित किया है ।

---

1. हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती - डॉ. नगेन्द्र - पृः 262.
2. नयी कहानी की भूमिका - कमलेश्वर - पृः 176.

आधुनिक परिवेश और उपन्यास

आधुनिक साहित्य खासकर उपन्यास ने वर्तमान यथार्थ को अपने विस्तृत कलेवर में समेट लिया है । स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नगर जीवन की विडम्बना से त्रस्त मानव के अंतरंग को रूपायित करने में कविता और कहानी के समान उपन्यास भी सफल निकला है । आधुनिक पात्र अपने लिये अपरिचित नहीं । अपनी ही पीडा एवं कुण्ठाओं से संत्रस्त, बेसहारा घूमनेवाला पात्र हिन्दी उपन्यास को जनसामान्य का बना डालता है । अज्ञेय के "शेखर एक जीवनी" से लेकर आधुनिक उपन्यास बद्दी उज़मा का "चूहे की मौत" तक के उपन्यास एक नितांत नयी संवेदना से हमें परिचित कराते हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश का प्रभाव कविता और कहानी की भाँति उपन्यास पर भी पडा है । आज की वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति, पूँजीवादी, अर्थव्यवस्था और नगरों की अपार भीड-भाड आदि के कारण पुराने मुल्य नकारे जा रहे हैं । मध्यवर्गीय व्यक्ति इस भीड में अपने को खोया हुआ पाता है । समाज के परस्पर टकराते हुए स्वार्थों ने उसका व्यक्तित्व नष्ट कर डाला है । "जहाँ परिवार टूट रहे हो, नैतिकता न रह गयी हो, इन्द्रिय लिप्सा बढ रही हो, भौतिकता में ही सारे मूल्य और रिश्ते समा गए हो, वहाँ आज का उपन्यासकार शून्य में सिर टकराता रहता है ।"[1]

मानवीय संकट को अपनी पूरी गहराई एवं समग्रता के साथ संप्रेषित करनेवाले उपन्यासकार हैं फणीश्वर नाथ "रेणु" । उनके "मैला आंचल" (1954) में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद भारत के ग्रामों में होनेवाले परिवर्तन का अंकन है । शिल्प की दृष्टि से भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है । उनका दूसरा

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ: 81.

उपन्यास "परती परिकथा" (1957) में परानपुर नामक गाँव को लेकर भारत के टूटे हुए ग्रामीण जीवन की व्यथा, उसके अंधविश्वासों, रूढियों, धार्मिक आडंबरों, समाजिक एवं राजनैतिक दबावों की कथा कही गयी है। नरेश मेहता का "धूमकेतु एक श्रुति" इसी कोटि का उपन्यास है ।

मोहन राकेश के "अंधेरे बन्द कमरे" (1961) , "अंतराल" (1972) और "न आनेवाला कल"[1] जैसे उपन्यासों में अस्तित्व संकट के शिकार बने आधुनिक पात्रों के अन्तर्मन का अनावरण हुआ है । राकेश के पात्र अनस्तित्व की व्यथा भोगते हुए अपने अस्तित्व की तलाश करनेवाले दिशाहीन घूमनेवाले आधुनिक मानव के प्रतीक बनकर हमारे सामने आते हैं । उसी प्रकार सुरेश सिन्हा कृत "सुबह अंधेरे पथ पर" (1967) और "एक और अजनबी" (1961) का स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में प्रमुख स्थान है ।

रमेश बक्षी कृत "चलता हुआ लावा" (1968) में आज के विकृत जीवन को ज्वालामुखी के रूप में और मरणासन्न मनुष्य को उसके लावे के रूप में चित्रित किया गया है । "सोया हुआ जाल" शीर्षक उपन्यास में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने द्वितीय महायुद्ध के बाद जीवन में टूटते मूल्यों एवं मान्यताओं, चारित्रिक पतन आदि का चित्रण किया है ।

आधुनिक उपन्यास साहित्य में श्री शैलेश भाटियानी का प्रमुख स्थान है । उन्होंने अपने श्रेष्ठ उपन्यास "कबूतरखाने" में आधुनिक जीवन की बोरियत, खोखलापन, छटपटाहट आदि के सन्दर्भ में व्यक्ति की ट्रेजेडी की स्थिति बतायी है । ओम प्रकाश दीपक ने "कुछ जिन्दगियाँ बेमतलब" में दिल्ली की एक गली में घसीटा नामक युवक के माध्यम से ऐसे लोगों की जिन्दगी का यथार्थ चित्रण किया है जो अनचाही सन्तान के रूप में जन्म धारण कर मारे मारे घूमते हैं ।

---

1. न आनेवाला कल - मोहन राकेश, दूसरा संस्करण, 1970.

जाहिर है कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास समसामयिक जीवन को उसकी समग्रता में स्थापित करके आगे बढ रहा है । व्यक्ति एवं समाज के नये यथार्थ को संप्रेषित करने में आधुनिक उपन्यासकार सफल निकले हैं । स्वाधीनोत्तर हिन्दी साहित्य के पात्र पाठक केलिए अपरिचित नहीं बल्कि अपने तथा अपने परिचितों के शकल लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं । इसलिए स्वाधीनोत्तर साहित्य में व्यक्ति के अन्तर्मन का विश्लेषण बदली हुई सामाजिक परिस्थिति के मुताबिक प्रस्तुत किया गया है ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में जागृति के नवोन्मेष का संचार हुआ । ज्ञान विज्ञान, टेकनालोजी, साहित्य, संगीत, कला जीवनस्तर आदि विभिन्न तत्वों को अपने ढंग से विकसित होने का अवसर मिला । "विज्ञान के कारण मज़दूरी और मेहनत, कार्य और चिन्तन, नगर और महानगर, कस्बा और ग्राम, उत्पादन और उपभोग सभी के मानदण्ड क्रान्तिपूर्ण ढंग से बदल गये हैं ।[1] इसके फलस्वरूप वैयक्ति, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बधों में परिवर्तन आ गया है । आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है । व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन हुआ है । महानगरीय सभ्यता ने उसे अन्तर्मुखी बना दिया है । भौतिक सुख की लालसा एवं अर्थिक विषमता ने उसके सम्बधों को यांत्रिक बना दिया । सब कहीं मूल्य संकट दिखायी देने लगा । जो प्राचीन मुल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व केलिए अनिवार्य समझे जाते थे, वे आधुनिक परिवेश में अनुपयुक्त प्रतीत होने लगे । पति पत्नी के "सेक्स" सम्बधी धारणाओं में परिवर्तन आ गया है । स्वतंत्रता प्राप्ति के

---

1. आधुनिकता और मोहन राकेश - ऊर्मिला मिश्र - पृ: 10.

बाद के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल के कारण जीवन में निराशाबोध उत्पन्न होने लगा । इस बदलते परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार चुप नहीं रह सके । साहित्यकारों ने विशेषकर नाटककारों ने आधुनिक मानव की संवेदनाओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रकट करने की कोशिश की । इसकेलिए नये नये प्रयोग किये गये । इन प्रयोगों के फलस्वरूप साहित्य क्षेत्र में विभिन्न प्रवृत्तियाँ उद्घाटित हुईं ।

इन प्रवृत्तियों का वर्गीकरण यद्यपि सरल नहीं है तथापि प्रमुखता के आधार पर इनको विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है । आधुनिक नाटककार वस्तु और शिल्प दोनों में परंपरा का उल्लंघन करना चाहता है । पौराणिक या मिथकीय प्रकरणों और कथाओं को ग्रहण करते हुए भी वे अपनी रचनाओं में वर्तमान जीवन की समस्याओं और जटिलताओं का ही प्रतिपादन करते हैं । स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बध में वे पुरानी परिपाटी का समर्थन नहीं करते । स्त्री पुरुष सम्बध आज इतना बोझिल और जटिल है कि उसका पुरातन रूप ही बदल गया है । राजनीति आज की सर्वथा भिन्न है । पुरानी राजनीति में नैतिकता अनिवार्य मानी जाती थी किन्तु आधुनिक राजनीति के कार्यकर्ता, नैतिकता क्या है यह जानता तक नहीं । जीवन के सारे क्षेत्रों में मुल्यहीनता छाने लगी है । आज का साहित्यका जीवन की परिस्थितियों का वास्तविक चित्रण करना अपना कर्तव्य नहीं मानता । वह अपने कथ्य का सीधा प्रतिपादन नहीं करके प्रतीकों के द्वारा अपना वक्तव्य व्यंजित करना चाहता है । ये सारी प्रवृत्तियाँ जगदीशचन्द्रमाथुर, मोहनराकेश, लक्ष्मीनारायणलाल, मुद्राराक्षस , सुरेन्द्रवर्मा आदियों की नाट्य रचनाओं में दिखायी पडती है । अत्यन्त प्रकट दीखनेवाली प्रवृत्तियों को निम्न लिखित ढंग से हम वर्गीकरण करेंगे ।

विसंगति बोध

द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप जीवनमूल्यों में जो परिवर्तन हुए उनकी प्रेरणा से विसंगत नाटक अस्तित्व में आये । जीवन के बदलते परिवेश में चिंतनशील व्यक्ति की मानसिकता स्वाभाविक रूप से नये आयामों की ओर अग्रसर होने लगती है । मनोभावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने केलिए वह नये शिल्प की तलाश करने लगता है । फल स्वरूप एबसर्ड नाटय परंपरा विकसित होने लगी । आधुनिक एब्सर्ड नाटक पश्चिम की देन है । जीन जैन , यूजीन अयनेस्को , सामुअल बैकेट आदि इस नाट्य शैली के प्रमुख प्रवर्तक हैं । "एबसर्ड नाट्य शैली आर्टाउड, जीन जैन , यूजीन अयनेस्को व सैमुअल बैकेट के नाटकों के साथ प्रारंभ हुई ।"[1] यह नाट्य परंपरा बैकेट के नाटकों के साथ इगलैण्ड पहुँचा और जॉन आस्बोर्न, हेराल्ड पिंटर आदि शीर्षस्थ नाटककारों ने इस परंपरा को आगे बढाया । सैमुअल बैकेट का "वेटिंग फोर गोदो" इस शैली का, प्रमुख नाटक है । इन से प्रेरणा पाकर अनेक नाटक लिखे गये - "The theatrical success of 'Waiting for Godot' was followed by the production of a number of dramatic works for the stage, radio and television, accompanied by Becketts recognition as one of the leading influences in the theature of the absurd".[2]

---

1. असंगत नाटक और रंगमंच - नरनारायण राय - पृ: 52.

2. Encyclopedia of World Drama, Vol. I, A-D, p.156.

ब्रेख्त के प्रभाव, थियेटर आफ एबसर्ड के अध्ययन एवं अंतर्राष्ट्रीय सहानुभूति के कारण इस शैली की लोकप्रियता बढ गयी ।

हिन्दी में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "अब्दुल्ला दीवाना" इस शैली का नाटक है । लाल इसमें सामान्य सरणि से हटकर अलग दिशा में आ गये हैं वे अपने अन्य नाटक 'व्यक्तिगत' और "सब रंग मोहभंग" में भी प्रतीकों और नाट्य बिंबों के माध्यम से परंपरागत शैली से हटकर प्रयोग शैलियों में यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं । विपिन कुमार का "तीन अपहिज" शांति मलहोत्रा का "ठहरा हुआ पानी" , लक्ष्मीकान्त वर्मा का "अपना अपना जूता" इसी शैली के नाटक हैं ।

स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया आयाम

स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण, उनका ऐक्य और मिलन मानवजीवन के मूलाधार हैं । स्त्री अपने सौन्दर्य और कोमलता के कारण पुरुष केलिए आकर्षण का केन्द्र है । वह पुरुष की संगिनी एवं प्रेरणा है । स्त्री और पुरुष के पारस्परिक मिलन को शाश्वत बनाये रखने केलिए समाज ने उन्हें विवाह रूपी डोरी से बाँध दिया है । विवाह के साथ ही साथ स्त्री-पुरुष सम्बधों में समस्या उत्पन्न हो गयी । पुरुष नारी को अपनी संपत्ति मानकर उसपर अनुचित अधिकार जमाना चाहता है । फलस्वरूप स्त्री के मन में मुक्ति की चाह प्रबल होने लगती है ।

आज सामाजिक एवं अर्थिक परिस्थितियाँ एकदम बदल गयी हैं । पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, नैतिकता के बदलते हुए मापदण्ड, औद्योगीकरण आदि के कारण हमारे दृष्टिकोण और जीवन मुल्य बदल गये हैं । "सेक्स" स्त्री-पुरूष सम्बधों का प्रमुख आधार बन गया ।"[1] नागरिक सभ्यता ने स्त्री-पुरूष के बीच तनाव , अलगाव उत्पन्न कर दिया । यौन पवित्रता दूर होने लगी है । आज नारी और पुरूष का स्वाभाविक रूप अनाकर्षक और निरर्थक हो गया है ।

साठोत्तर नाटकों में स्त्री पुरूष सम्बधों को नये दृष्टिकोण से परखने की प्रवृत्ति विकसित दिखायी पडती है । मोहन राकेश का नाटक "आधे अधूरे" (1974) , मुद्राराक्षस का "तेंदुआ" (1978) , लक्ष्मीनारायण लाल का "अन्धा कुआ" (1956) "कर्फ्यु" (1972) , "रात-रानी" (1970) मन्नु भण्डारी का "बिना दीवारों के घर" रमेश बक्षी का देवयानी का कहना (1972) सुरेन्द्र वर्मा का तीसरा हाथी (1975) और सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक (1975) आदि इसी कोटि के नाटक हैं । हर एक में स्त्री-पुरूष सम्बधों का विभिन्न आयाम दर्शनीय है । इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायगा ।

---

1. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरूष सम्बध - डॉ. नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी - पृ: 121.

इतिहास-पुराण का नया भावबोध

हिन्दी नाटक साहित्य में ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों की सुदीर्घ परंपरा रही है । नये नाटककारों ने इस परंपरा को स्वीकार किया है लेकिन ज्यों का त्यों नहीं । गौरवमय अतीत का चित्रण प्रस्तुत करना अब तक का ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों का लक्ष्य रहा । लेकिन 1950 के बाद के नाटकों में प्राचीन आदर्शपरक भूमि से हटकर समसामयिक मनुष्य की यथार्थ संवेदना स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रबल दिखायी पडती है । अब तक के ऐतिहासिक नाटकों में आदर्श चरित्र और घटनाएं कथ्य के रूप में स्वीकृत थे । लेकिन आज के बदलते परिप्रेक्ष्य में युग की अभिव्यक्ति नाटक का धर्म माना जाता है । इस प्रवृत्ति की शुरूआत जगदीशचन्द्र माथुर का "कोणार्क" और धर्मवीरभारती का "अंधा युग" से हुई है । इनसे प्रेरणा पाकर हिन्दी में इस कोटि के अनेक नाटक लिखे गये - "साठोत्तरी नाट्य साधना में, ऐसे अनेक नाटक लिखे गये जिसमें कथ्य की इस नवीन प्रवृत्ति का विकास देखा जा सकता है ।"[1]

लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक "सूर्यफख", (1968) "कलंकी" (1969) , "राम की लडाई"[2] शंकर शेष का एक और "द्रोणाचार्य" (1978) "जगदीशचन्द्र माथुर का "पहला राजा" (1969) आदि इसी प्रवृत्ति के प्रमुख नाटक हैं । "इन सभी नाटकों का आवरण या कलेवर भले ही ऐतिहासिक या पौराणिक सा प्रतीत होता हो, लेकिन इसकी आत्मा आधुनिक है ।"[3]

---

1. हिन्दी नाटक प्राक्कथन और दिशाएं - डॉ. विजयकान्तधर दुबे - पृ: 68.
2. राम की लडाई - लक्ष्मीनारायणलाल - दूसरा संस्करण - 1983.
3. हिन्दी नाटक प्राक्कथन और दिशाएं - डॉ. विजयकान्तधर दुबे - पृ: 70.

भ्रष्टाचार

स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति ने जीवन की प्रक्रिया में विकृति, विषमता एवं निराशा को भर दिया । एक ओर वैज्ञानिक उन्नति हुई तो दूसरी ओर बेरोज़गारी बढती गयी । अर्थिक विषमता ने मध्यवर्गीय जीवन में जडता उत्पन्न कर दी । शहरों में आलीशान मकान बने, गाँव उजडते चले गये । नौकरी की तलाश में गाँव के लोग शहर की ओर बढे । महानगर की सभ्यता ने उनके स्वप्नों को दुकरा दिया है । व्यक्ति स्वार्थचित्त बने । आर्थिक विषमता ने दाम्पत्य जीवन को नीरस बना दिया । आकर्षण विकर्षण में परिणत होने लगा । फलस्वरूप जीवन में मनमुटाव, निराशा एवं सत्रास छाने लगे । इन सब का प्रतिबिंब नाटकों में होता है । लक्ष्मीनारायण लाल का "मिस्टर अभिमन्यु" (1971) "कर्फ्यू" (1972), ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "शुतुर्मुग" (1968), जगदीशचन्द्र माथुर का "पहला राजा" (1969) आदि नाटक इसके प्रमाण हैं ।

भ्रष्ट राजनीतिक विडम्बना

आज हमारे वर्तमान जीवन में राजनीति का सर्वाधिक महत्व है । उसे छोडकर कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता । राजनीति के अतिप्रसार के कारण हमारे नाटकों में सर्वत्र उसका प्रतिपादन मिलता है ।

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाटकों में मानव के प्रत्यक्ष जीवन को नाटकीय कथ्य के रूप में स्वीकारने की प्रवृत्ति मिलती है । इस समय के प्रायः सभी नाटकारों ने विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, विसंगतियों, महानगरीय सभ्यता के अभिशापों, आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों, युवापीढी की दिशाहीनताओं और मूल्य संकटों को अपना कथ्य बनाया है । उन्नीस सौ पचास के बाद हिन्दी नाटक में भ्रष्ट राजनीतिक विडम्बना को विशेष स्थान प्राप्त होने लगा है ।

ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शुतुर्मुर्ग (1968) , सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का "बकरी" (1973) , शंकर शेष का "एक था गधा" (1979) , जगदीशचन्द्र माथुर का "पहला राजा" (1969) और सुशीलकुमार सिंह का "सिंहासन खाली है" (1974) आदि इसी कोटि के नाटक हैं ।

नये प्रतीक

आज के नाटककार प्रतीकों की स्वीकृति में नवीनता लाते हैं । मानवीय सम्बधों की अभिव्यक्ति केलिए भी नये नये प्रतीकों की प्रतिष्ठा की जाती है । समकालीन प्रतीक नाटकों में कथ्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति दिखायी पडती है । मानव की क्रूर मनोवृत्ति का चित्रण करने केलिए समकालीन नाटककारों ने विभिन्न पशु प्रतीकों का प्रयोग किया है । इस प्रवृत्ति का आरम्भ ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक "शुतुर्मुर्ग" से होता है ।[1] यह नाटक शुतुर्मुगी राजनीति पर एक व्यग्य है । मुद्रराक्षस का "तिलचट्ठा" (1973) जीवन में तीसरे व्यक्ति के प्रवेश से उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रिया का चित्रण प्रस्तुत करता है । सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृ:457.

"बकरी" §1974§ शोषण और भ्रष्ट राजनीति को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत करता है । लक्ष्मीनारायण लाल का "मादा कैक्टस" §1958§, मुद्रारक्षस का "तेन्दुआ" §1975§ रमेश बक्षी का तीसरा हाथी आदि इसी परंपरा के नाटक हैं ।

गीति नाट्य शैली §काव्य नाटक§

हिन्दी नाट्य साहित्य में इस परंपरा का आरंभ प्रसादजी के करुणालय §1912§ से होता है ।[1] आधुनिक युग में काव्य नाटक की शुरुआत धर्मवीर भारती का अंधा युग से होती है । यह हिन्दी का पहला काव्य नाटक है जो रंगमंच पर अभिनीत हुआ है ।[2] पौराणिक आख्यान के माध्यम से धर्मवीर भारती ने आधुनिक युग की संवेदनाओं का सशक्त अंकन इसमें किया है । इसमें युद्ध जन्य मूल्यहीनता अमानवीयता और सामूहिक तथा वैचारिक विघटन का उद्घाटन है ।

स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में इस रचना शैली का पर्याप्त विकास हुआ है । लक्ष्मीनारायण लाल का "सूखा सरोवर" §1955§ , नरेश मेहत्ता का "संशय की एक रात" §1960§ , दुष्यंत कुमार का "एक कंण्ठविषपायी" §1963§ आदि इस परंपरा की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं । इनमें शिल्प एवं कथ्य की नवीनता है ।

---

1. हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास - डॉ. शान्ति मलिक - पृ: 448.
2. स्वतंत्रतोत्तर हिन्दी साहित्य - डॉ. महेन्द्र भटनागर - पृ: 101.

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी नाटक कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से बहुआयामी बन गया है । व्यक्ति एवं समाज की ऐसी कोई समस्या नहीं रह गयी है जिसका संस्पर्श हिन्दी नाटक ने न किया हो । वैयक्तिक जीवन में जो समग्र परिवर्तन स्वाधीनता के पश्चात उपस्थित हुआ है उसका मार्मिक एवं सूक्ष्म चित्रण हिन्दी नाटक को एक नयी दिशा की ओर ले गया है । सामाजिक उथल-पुथल, राजनैतिक बदलाव जैसी समस्याएं भी हिन्दी नाटक ने अपने में समेट ली हैं । आधुनिक हिन्दी नाटक की प्रवृत्तियाँ अनगिनत हो गयी हैं । लेकिन उनमें से प्रमुख एवं - युग जीवन के धडकनों को महसूस करानेवाली प्रवृत्तियाँ जो हैं उन्हीं का समग्र अध्ययन ही यहाँ लक्षित है । इस सन्दर्भ में खास तौर पर उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि हिन्दी नाटक में अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ दिखायी पडती हैं - फिर भी प्रामुख्य को ध्यान में रखते हुए विसंगति बोध , स्त्री-पुरुष सम्बधों का वैचित्रय , भ्रष्टाचार इतिहास का नया भावबोध आदि का हम विशद विवेचन करेंगे ।

तीसरा अध्याय

विसंगति-बोध

विसंगति-बोध

जो संगत नहीं वही विसंगत है । विसंगतिबोध मानव की तार्किक चिन्ताशक्ति की उपज़ है । "चिन्तनशील व्यक्ति की दृष्टि में जीवन और जगत वास्तव में विसंगत है ।"[1] आल्बेर कामू ने फिर "मिथ आफ सिसिफस" नामक पुस्तक में इसकी व्याख्या इस प्रकार दी है - "युक्तिहीनता से टकराना और उस से विमुक्ति पाने की इच्छा करना ही विसंगति है । मनुष्य के हृदय में उसका अह्वान निरंतर प्रतिध्वनित होता है ।"[2]

विसंगतिबोध को अस्तित्ववादियों से काफी प्रेरणा मिली है । अस्तित्ववादियों की दृष्टि में मनुष्य की सारी कोशिशों की परिणति अन्ततः मृत्यू में समाहित है ।[3] मृत्यू की चिन्ता मनुष्य में निराशा एवं निरर्थकताबोध पैदा करती है । फलस्वरूप विसंगतिबोध प्रबल हो जाता है । विसंगतिबोध से अभिभूत व्यक्ति भविष्य के सम्बध में व्याकुल दिखाई पडता है । उसकी दृष्टि में जीवन का कोई अर्थ नहीं ।

---

1. "... the world is absurd ... This world in itself is not reasonable, that is all can be said".
   Albert Camus, The Myth of Sisyphus - p.26.

2. "What is absurd in the confrontation of the irrational and the wild longing for clarity whose call echos in human heart". Ibid - p.26.

3. "At the end of all that, despite everything in death".
   Ibid - p.83.

यद्यपि साहित्य में विसंगतिबोध बहुत समय से प्रतिबिंबित दिखाई देता था तथापि उसकी अभिव्यक्ति मुख्य रूप से युद्धोत्तर साहित्य में ही पायी जाती है । विशेषकर पश्चिमी साहित्य में इसका स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगा । प्रथमतः निम्न लिखित साहित्यकारों की रचनाओं में विसंगतिबोध का प्रखर रूप मिलता है ।

आलबेर कामू

आलबेर कामू ने जीवन की निरर्थकता पर ज़ोर देते हुए अपनी प्रसिद्ध रचना मिथ आफ सिसिफस में कहा है - "यह जिन्दगी जीने योग्य है या नहीं, इसके निर्णय करने में दर्शन के मौलिक प्रश्न का उत्तर निहित है । वस्तुतः सर्वाधिक गंभीर दार्शनिक समस्या एक ही है - आत्महत्या ।"[1] सिसिफस कामू के विसंगत दर्शन का प्रतिरूप है । मिथ आफ सिसिफस के द्वारा कामू ने यह व्यक्त किया है कि सिसिफस ने जिस पीडा का अनुभव किया[2] उसी पीडा को मनुष्य इस जगत में भोग रहा है । सिसिफस मानव राशि की विसंगति का प्रतीक है ।

मार्टिन एस्लिन

कामू के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मार्टिन एस्लिन ने अपनी पुस्तक "थिएटर आफ दि एब्सर्ड" में व्यक्त किया है । उनके मतानुसार - एब्सर्ड नाटक परंपरागत नाटकों से भिन्न हैं । इसमें सुगठित नाटकों के गुण नहीं होते । इसमें

---

1. **"There is but one truely serious philosophical problem and and that is suicide. Judging whether life is or is not worth living amounts to answering the fundamental question of philosophy". Albert Camus - The Myth of Sisyphus - p.83.**
2. ग्रीक मिथोलजी के अनुसार सिसिफस कोरिंत का राजा था । उसके अशिष्ट व्यवहार से क्रुद्ध होकर ज़ूस (ZESUS) ने उसे निरंतर एक भारी पत्थर पहाडी पर लुढकाते चढाते रहने का शाप दिया । वह निरंतर यही कार्य करता रहता है । उस वेदना से उसे मुक्ति नहीं मिली ।

सुनिश्चित प्रारंभ और अन्त नहीं, सुव्यवस्थित कार्य कलाप नहीं, सुन्दर अर्थयुक्त संवाद नहीं , केवल बकवास ही होते हैं ।[1] युक्तिहीन संवादों और घटनाओं के माध्यम से विसंगति का बोध कराना ऐसे नाटकों का लक्ष्य है । मर्टिन एस्लिन ने जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया था उन्हीं सिद्धान्तों को यूजीन अयनेस्को ने भी व्यक्त किया है ।

यूजीन अयेनेस्को

यूजीन अयेनेस्को ने वर्तमान विश्व की विसंगति पर अपना मत प्रकट किया है । काफका को लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा है - सोद्देश्य साहित्य ही विसंगति है । इस अवस्था में मनुष्य अपने धर्मिक , मनस्तत्वपरक तथा अतीन्द्रिय आधारों से कट जाता है । उसके सारे कार्य विनष्ट होते हैं । वह चेतना रहित असंगत और अनुपयुक्त बन जाता है ।[2]

विसंगतिबोध के सम्बध में आलबेर कामू, मार्टिन एस्लिन, यूजीन अयेनेस्को जैसे महान चिन्तकों ने जिन विचारों को व्यक्त किया है उसका असर साहित्य पर पडा है । साथ ही साथ तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विसंगति का एहसास अत्यन्त प्रबल हो गया ।

---

1. The Theature of the Subsurd - Martin Esslin - p.21-22.
2. Absurd in that what is devoid of purpose --- cut off from his relegious, metaphysical, and transcendental roots, man is lost ; all his actions become senseless, absurd, useless.
   Engene Ionesco - 20th October 1957 (letter) Quoted from Martin's Esslin's the Theature of the Absurd - p.23.

विसंगतिबोध और साहित्य

गत महायुद्धों की विभीषिका ने मानव चेतना को इतना झकझोर दिया कि उसे न तो सनातन मूल्यों में विश्वास रहा और न आदर्शों में । आज वह अकेले रहनेकेलिए अभिशाप्त है । महानगरीय सभ्यता, वैज्ञानिक प्रगति, महायुद्धों की भीषणता आदि ने मनुष्य के अकेलेपन की संवेदना को प्रश्रय दिया । इसके फलस्वरूप व्यक्ति के मन में आश्रयहीनता का बोध बढने लगा । आज कल वह जीवन को अर्थहीन तथा विसंगत पाता है । वह एक दूसरे से कटा हुआ महसूस करता है । मूल्यों के प्रति जो अस्था थी वह नष्ट हो गयी । मनुष्य इस भौतिक जगत को यथार्थ, साथ ही साथ अर्थहीन पाता है । "बाह्य जगत ही यथार्थ है लेकिन उसका कोई अर्थ नहीं । यह दुनिया विसंगत है और ईश्वर मर गया है वस्तुओं की स्थिरता एक मिथ्या धारणा है ।"[1]

लोग सोचने लगे कि निरर्थक तथा विसंगत जीवन बिताने केलिए मूल्यों की ज़रूरत ही क्या? परिणामत: अनैतिक प्रवृत्तियों से पाश्चात्य समाज कलुषित हो गया । इसीलिए निराशा और निसंगता का माहौल सारे यूरोप में व्यापने लगा है । निरर्थकताबोध पाश्चात्य साहित्य में प्रतिबिम्बित होने लगा है । सारे यूरोप में इस निरर्थकता बोध की लहरें पायी जाती हैं । आधुनिक पाश्चात्य साहित्य की मूल चेतना ही अकेलापन है ।[2] काफ्का, कामू, सार्त्र, दस्ताएवस्की जैसे पाश्चात्य दार्शनिक साहित्यकारों की रचना में मनुष्य की इस दारुण दशा का चित्रण है ।

---

1. **The external world is real ; it exists, but it has no meaning except for the mind. The World is absurd and God is dead. The apparent stability of things is an illusion. Asurney of French Literature - Morris Bishop - Vol.II - p.399.**

2. **The basic feelings that runs through the major portion of Western Literature is the feeling of lonliness. Modernity and Contemporary Indian Literature - p.87.**

द्वितीय महायुद्ध के बाद व्यक्ति अत्यधिक संत्रस्त हो उठा । उसमें घोर निराशा, टूटन और व्यर्थता बोध व्याप्त हो गया । इसका प्रभाव साहित्य में बहुत अधिक मात्रा में हुआ । पश्चिम में इबसन (1828-1906) और स्ट्रिंडबर्ग (1849-1912) के समय से परंपरागत नाट्य रूढियाँ टूटने लगी थीं और नाटक ने नया शिल्प ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया था । बाद में आलफ्रेड जेरी, आस्कर कोकोश्क, टिस्टन आदि ने नाटक को और आगे बढाया । "इन नाटककारों ने अन्तर्वृत्तियों का गहराई से विश्लेषण किया और वे अतियथार्थवाद की ओर बढे । यहीं से नाटक में विसंगतियों का चित्रण प्रारंभ हुआ ।"[1]

असंगत नाट्य परंपरा असल में नाट्य लेखन की एक बौद्धिक परंपरा है । विश्व युद्ध की प्रतिक्रिया के रूप में असंगत नाटकों का निर्माण हुआ । "सामुअल बेकेट, यूजीन अयनेस्को, ज्यांजेने, आर्थर आदामोव, एडवेड अलवी, हेरोल्ड पिंटर, आदि ने असंगत नाटक लिखे और इन्हें अच्छी ख्याति भी मिली ।"[2] बेकेट के नाटक "वटिंग फार गाडो" (1952 ई.) को तो नोबल पुरस्कार भी मिला । इसमें निरर्थकत निराशा और जीवन का बेतुकापन अभिव्यक्त हुआ है । इन नाटककारों का प्रभाव हिन्दी के विसंगत नाटककारों पर पर्याप्त मात्रा में हुआ है ।

विसंगतिबोध और भारतीय परिस्थिति

विसंगतिबोध की प्रवृत्ति पश्चिमी प्रभाव की उपज प्रतीत होते हुए भी यह माना जाना चाहिए कि भारतीय परिस्थिति से इसका सीधा सम्बध है । विश्व युद्ध के बाद पश्चिम की जो दशा थी , उससे नितांत भिन्न नहीं थी स्वतंत्र भारत की दशा । स्वतंत्र वातावरण में साँस लेने केलिए लालायित जनसाधारण को देश के विभाजन से उत्पन्न भीषण स्थिति का सामना करना पडा । लाखों की संख्या में लोग मारे ग

---

1. नाट्य चिन्तन नये सन्दर्भ - डॉ. चन्द्र, पृ: 80.
2. वही ।

स्त्रियों का बलात्कार किया गया । बच्चों की भी निर्मम हत्या की गयी । हिन्दू और मुसलमान दोनों क्रूर और हृदयहीन बन गये । "विभाजन के फलस्वरूप नरसंहार तथा मानवता पर बलात्कार और महात्मा गाँधी की हत्या (30 जनवरी 1948) ऐसी ऐतिहासिक दुर्घटनाएं घटित हुई जिनसे चारों ओर फैला उल्लास मंद पड गया और देश में उदासी तथा क्षोभ छा गया ।[1]

स्वतंत्र भारत में सुख, शाँतिपूर्ण जीवन बिताने का व्यक्ति का स्वप्न स्वप्न ही रह गया । उसका मन भय, संत्रास और निराशा से भर गया । व्यक्ति सम्बध शिथिल हो गया । शासन नीति में परिवर्तन नहीं आया । पुराने शोषकों के स्थान पर नये शोषक आ गये । स्वतंत्र होने पर भी भारत को अन्न वस्त्र और शस्त्र केलिए विदेशियों का आश्रय लेना पडा । अर्थसंकट का फल मुख्य रूप से मध्यवर्ग के लोगों को भोगना पडा ।

विज्ञान और टेकनालजी की प्रगति के कारण बेकारी की समस्या बढती गयी । नौकरी केलिए लोग बडे बडे शहरों में पहुँच गये । नागरिक जीवन की भीषणता के कारण पाशविक वृत्ति बढने लगी । मूल्य विघटन साधारण सी बात हो गया । महानगरीय सभ्यता में व्यक्ति अपने को असहाय और अकेला पाता है । बदली हुई परिस्थिति में आम जनता का जीवन दुष्कर हो गया । अपने अस्तित्व की चिन्ता उसे काटती रही । विसंगति उसकी संगिनी बन गयी ।

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास -
   लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पहला संस्करण - 1973, पृ: 9.

हिन्दी नाटक

साहित्य समाज का अनुगामी है । स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में भारत की बदलती परिस्थितियों का प्रत्यक्ष प्रभाव है । "भारतीय राजनीतिक-सास्कृतिक-सामाजिक परिदृश्य और वातावरण के बदलते सन्दर्भ ही बीसवीं शताब्दी के साहित्य में व्यंजित हुए हैं ।"[1] भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठती है । लेकिन हिन्दी साहित्य पर इसका असर अधिक पडा है । क्यों कि हिन्दी क्षेत्र भारत विभाजन की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शी रहा । विभाजन का फल अधिक मात्रा में उन्हें ही भोगना पडा । इसीलिए उनके साहित्य में समसामयिक चित्रण अधिक मात्रा में है । "जिस कृति में सामयिक बोध नहीं, वह काल के थपेडे से अकाल मृत्यु को प्राप्त होगा ही ।"[2]

समाज व्यक्ति का विस्तृत रूप है । व्यक्ति की आशा-निराशा की अभिव्यक्ति साहित्य में प्रतिबिंबित है । साहित्य की हर विधा व्यक्ति को अभिव्यक्त करती है । नाटक दृश्य और श्रव्य दोनों होने के कारण अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा इसमें व्यक्ति की अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण ढंग से हो सकती है । स्वतंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश ने हिन्दी नाटक साहित्य को एक नयी दिशा दी है । उसने उसे एक नया व्यक्ति, नया स्वर और नया परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है । नाटक के इस नये रूप में विसंगतिबोध की चिन्ता से ग्रस्त अभिनव मानव का चित्रण प्रभावपूर्ण ढंग से हुआ है । हिन्दी के ऐसे नाटककारों में श्री भुवनेश्वर प्रसाद का नाम सब से पहले आता है ।

---

1. हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती - सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृ: 66.
2. आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव - दशरथ ओझा, पृ: 158.

भुवनेश्वर प्रसाद

भुवनेश्वर प्रसाद आधुनिक विसंगत नाट्यशैली के जन्मदाता हैं । "आधुनिकता की शुरुआत उनके नाटकों से हुई है"।[1] उन्होंने हिन्दी नाट्य कला को यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित कर नया जीवन प्रदान किया । "भुवनेश्वर के नाटककार ने उस समय विसंगत जीवन के कारण निर्मित चेतना को पकड लिया था जब उन्हीं के युग के अन्य नाटककार आदर्शवादी चेतना के प्रभाव के अन्तर्गत लिख रहे थे"[2] भुवनेश्वर के एकाकी नाटकों में प्रमुख हैं - "तांबे के कीडे", "असर" और "स्ट्राइक" । उनके एकांकियों का एक ही संग्रह प्रकाशित हुआ है ।[3] उनके एकांकियों में जीवन की विषमताओं, विसंगतियों का चित्रण है ।

"तांबे के कीडे" में आज की समाज व्यवस्था के प्रति तुभ्रता व्यग्य है । यांत्रिक सभ्यता के प्रसार के कारण जीवन में जो परिवर्तन आये है उन्हीं का इसमें अंकन है । इसमें न कोई कथा है न चरित्रचित्रण । इसके पात्र अलग अलग जीवन क्षेत्रों से जुडे हैं । वे एक चौराहे पर इकट्ठे अलग अया लोग लगते हैं जिनका आपस में कोई सम्बध नहीं । सभी पात्र विसंगतिबोध से ग्रस्त हैं ।

"असर" में आधुनिक सभ्यता में पले उन व्यक्तियों का चित्रण है जिनका जीवन असर के समान है । इसमें समाज की विषम परिस्थितियाँ प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत की गयी हैं । पात्रों के आचरण में समाज में व्याप्त अवसाद एवं आचरण की झाँकी है ।

---

1. आधुनिक के पहलू - डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ: 98.
2. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृ: 145.
3. कारवां तथा अन्य एकांकी, लोक भारती प्रकाशन संस्करण, 1972.

"स्ट्राइक" में मध्यवर्गीय समाज के उन व्यक्तियों का चित्रण है जो उच्चशिक्षा प्राप्त होने के गर्व में पारिवारिक सम्बधों को नकार देते हैं । उनकी नाट्य कला पर पश्चिम का सीधा प्रभाव है । "उनकी तकनीक तथा विषय सभी पर शॉ, इब्सन तथा डी. एच. लारेन्स का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है ।"[1] उनके नाटकों में समाजिक जीवन की विकृतियों पर कठोर व्यग्य है । व्यग्य में तीखापन उनकी अपनी विशेषता है । कथानकों के निर्माण में कसाव एवं बारीकी है । भाषा समृद्ध और व्यजना शक्ति से भरी हुई है ।

जगदीश चन्द्र माथुर के नाटक और विसंगतिबोध

जगदीश चन्द्रमाथुर के नाटकों में विसंगतिबोध से ग्रस्त व्यक्तियों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है । "कोणार्क", "पहला राजा", और शारदीया उनके श्रीष्ठ नाटक हैं ।

कोणार्क

कोणार्क एक ऐसी रचना है जिसमें इतिहास के प्रति एक नयी दृष्टि व्यक्त को गयी है । "इसमें नाटककार ने उडीसा में स्थित सूर्यमंदिर की खंडित प्रतिम और उसके भग्नावशेष के सम्बध में प्रचलित किंवदंती का आश्रय लेकर एक कलाकार के "चिरन्तन मौन पौरूष" को वाणी देने का प्रयास किया है ।"[2]

कोणार्क का प्रमुख पात्र विशु उस आधुनिक मानव का प्रतिनिधित्व करत है जो यथार्थ से मुँह मोडकर अनचाहे मार्ग पर बढने केलिए विवश है । निर्णय लेने की असमर्थता उसके जीवन की विसंगति है । यथार्थ का सामना करने की क्षमता उसमें नहीं

---

1. आधुनिकता और हिन्दी एकांकी - माखनलाल शर्मा, पृ: 114.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 355.

नाटक में सौमू के प्रति विशु का कथन इसका समर्थन करता है - "नहीं सौमू ! जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह माँ बननेवाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया । नदी पर बढती सांझ की तरह उस भय की तंद्रा मेरी बुद्धि पर छा गयी और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अंज्ञात संतान से दूर-बहुत दूर भुवनेश्वर में देवमंदिर की छाया में - कला के आंचल में अपना मुँह छिपाने ।"[1] यहाँ विशु अपने व्यवहारिक और निजी जीवन की कला में टूटे हुए और हारे आधुनिक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है । वह अपनी प्रेमिका सारिका के बिछुड जाने से उत्पन्न विरह वेदना से मुक्ति चाहता है । विरह वेदना को जीवन दर्शन मानकर वह कोणार्क मंदिर के निर्माण में तल्लीन रहता है । लेकिन इसमें वह पूर्णतः सफल नहीं होता है । निराशा से उत्पन्न विसंगति उसकी संगिनी बन जाती है । उसकी असमर्थता इन शब्दों में व्यक्त है - "भव्य मंदिरों को बनानेवाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान केलिए एक झोंपडी भी न बना सके ।"[2] विशु सारिका को छोडकर जाना नहीं चाहता था । लेकिन अपने अस्तित्व की चिन्ता से पीडित विशु अंत में ऐसा करने केलिए विवश हो जाता है । परिस्थिति से प्रेरित होकर वह सारिका को छोडकर चला जाता है ।

विशु के जीवन की सब से बडी विसंगति नाटक के अन्त में अधिक प्रकट हो जाती है जब अपने हाथों से बनायी मूर्ति को तोडने केलिए वह बाध्य हो जाता है । एक कलाकार अपने हाथों से बनायी मूर्ति को तोडना नहीं चाहता । लेकिन विशु एसा करने केलिए विवश हो जाता है - "वे पाषाण खण्ड, जिन्हें उसने जीवन दिया था उसके शव पर फूलों के समान बिखरे पडे रहे ।"[3]

कोणार्क का विशु केवल कलाकार का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् उस आधुनिक मानव का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने जीवन से संघर्ष कर मर मिटने केलिए अभिशप्त है ।

---

1. कोणार्क - माथुर, पृः 32.
2. वही - पृः 32-33.
3. वही - पृः 82.

पहला राजा

पौराणिक कथा के माध्यम से वर्तमान जीवन की विसंगतियों का चित्रण आधुनिक नाटक की एक प्रमुख विशेषता है । माथुर का "पहला राजा" ऐसा एक नाटक है । नाटक में पहला राजा पृथु शासन के क्षेत्र में परिवर्तन लाने केलिए अथक परिश्रम करनेवाला चरित्र है । लेकिन मुनिगणों के षड्यंत्र के फलस्वरूप उसकी सारी योजनाएँ असफल सिद्ध होती हैं । "पुराणों में पृथु दृढ संकल्प सत्य प्रतीक, महान विजेता, क्राहमण भक्त, शरणागतवत्सल और दण्डपाणि अवतारी पुरूष के रूप में प्रतिष्ठित है ।[1] ऐसे प्रतिष्ठावान व्यक्ति को प्रतिष्ठा परिस्थितियों के कारण चकनाचूर हो जाती है ।

नाटक में सभी पात्र पौराणिक होते हुए भी प्रतीकात्मक हैं । आलोचकों ने पृथु को जवाहरलाल नेहरू का प्रतीक माना है । और मुनि उनके मंत्रिमंडल के, वेन विगत राज्य व्यवस्था के एवं उर्वी धरती के प्रतीक रूप में व्याख्यायित किये गये हैं ।

नाटककार ने पृथु को प्रकृति के विरुद्ध संघर्षरत मानवीय पुरुषार्थ के रूप में चित्रित किया है । पुरुषार्थ से संपन्न होने पर भी विसंगति के शिकार से वह अपने को नहीं बचा सका । 'राज्य की उन्नति के लिए वह अथक परिश्रम करता है । नदी में बाँध का निर्माण करवा कर सिंचाई से धर्ती को उर्वरा बनाना चाहता है । लेकिन शासन कार्य में उसकी सहायता करनेवाले मुनिगणों के षडयंत्र के कारण उसका स्वप्न अधूरा रह जाता है । बाँध का निर्माण पूर्ण होनेवाला ही था । सौ मज़दूरों की अधिक आवश्यकता थी । "हिमालय में घनघोर वर्षा के कारण दृषद्वती और यमुना में प्रचण्ड बाढ आई । बाँध के सिर्फ एक खण्ड में मिट्ठी डालनी बाकी थी । अगर एक सौ आदमी और होते तो बाँध पूरा हो जाता और टूटने की नौबत न आती मागध के इस कथन से यह व्यक्त हो जाता है कि पर्याप्त मज़दूरों के अभाव के ही कारण बाँध टूट गया है ।

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सूषम केदी, पृः 128.
2. पहला राजा - माथुर, पृः 95.

आधुनिक मानव की स्थिति पृथु से भिन्न नहीं है । सफलता प्राप्त करनेकेलिए कठिन परिश्रम करनेवाला आधुनिक व्यक्ति कभी कभी पतन के कगारे पर खडे होकर पराजय स्वीकार करने केलिए बाध्य हो जाता है । प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति उसमें नहीं है । परिस्थितिजन्य संघर्ष एवं घोर निराशा में वह जीवन जीता है । अनस्तित्व की तडप उसमें बनी रहती है । विसंगति ही उसका साथी है ।

"शारदीया" भी कोणार्क की भाँति ऐतिहासिक कथा सूत्र पर आधारित नाद्य कृति है ।[1] कोणार्क के विशु की भाँति शारदीया का नरसिंहराव भी विसंगतिबोध से ग्रस्त है । विशु शिल्पी है तो नरसिंहराव महीन वस्त्र बुननेवाला कारीगर है । वह भी अपने क्षेत्र में एक कलाकार है । "कोणार्क" की भाँति इस नाटक के केन्द्र में भी व्यक्ति है जिसकी भग्न प्रणय-रागिनी का स्वर सारे नाटक की अत्मा को उद्वेलित करता है ।

नाटक तामसिक और सात्विक शक्तियों के संघर्ष पर आधारित है । तामसिक शक्तियाँ सत्ता और स्वार्थ केलिए दो सात्विक हृदयों की (नरसिंह राव और बायजाबाई) सुख-शक्ति छीन लेती हैं । नाटककार ने तामसिक शक्तियों की क्रूरता को व्यक्त करने के साथ ही साथ नरसिंहराव की विसंगति को भी स्पष्ट कर दिया । उसके जीवन की विडम्बना यह है कि हिन्दू-मुस्लीं एकता का उद्घोष करने के कारण उसे कारागार की यंत्रणाएं सहनी पडीं । यह उसके जीवन की विसंगति है ।

---

1. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, पृ: 42.

राकेश के नाटक

विसंगतिबोध "आषाढ का एक दिन" में

ऐतिहासिक घटनाओं का समसामयिक सन्दर्भों में विश्लेषण राकेश के नाटकों की विशेषता है । "आषाढ का एक दिन" प्रसिद्ध कवि कालिदास के जीवनवृत्त पर आधारित समसामयिक नाटक है । यह अपने समूचे रूप में प्रचलित नाटकों से एक दम भिन्न है । "कथ्य, शिल्प, भाषा और प्रयोग की दृष्टि से अगर आधुनिक नाटक की शुरुआत यहाँ से स्वीकारी जाय तो इसे अनुचित नहीं कहा जायेगा ।"[1] "आषाढ का एक दिन" का कालिदास आधुनिक सृजनशील प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करता है । "लहरों के राजहंस" की भूमिका में राकेश ने यह स्पष्ट किया है - "कालिदास मेरेलिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्ततर्द्वन्द्व को संकेतित करने केलिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है ।"[2] स्पष्ट है राकेश ने इतिहास-प्रसिद्ध कालिदास के जीवन चरित को प्रस्तुत करना अपना लक्ष्य नहीं माना, बल्कि सृजनात्मक प्रतिभा के प्रतीक के रूप में उसे स्वीकार करके आधुनिक मानव की विसंगति को चित्रित करना चाहा ।

आधुनिक युग में अस्तित्व की चिन्ता प्रबल होती जा रही है । आज की परिस्थिति में व्यक्ति अपने अस्तित्व को बनाये रखने में असमर्थ हो जाता है । सामाजिक मर्यादाएं व्यक्ति के अस्तित्व में बाधक बन जाती हैं । परिस्थितियों से समझौता करके, मर्यादाओं का उल्लंघन करके आगे बढने का उसका हर प्रयास पराजय में परिणत होता है । अन्ततः वह विसंगति का शिकार बनकर असीम व्यथा को भोगते हुए मृत्यु का आलिंगन करने केलिए अभिशप्त रह जाता है ।

---

1. नाटककार मोहन राकेश -सुन्दर लाल कपूनिया, पृः 17.
2. लहरों के राजहंस (भूमिका) - मोहन राकेश ।

"आषाढ का एक दिन" का कालिदास - विसंगतिबोध से ग्रस्त आधुनिक दुर्बल व्यक्ति का प्रतीक है । अपने ग्राम प्रांतर में उसे वांछित स्वीकृति नहीं मिलती । उसे हमेशा दूसरों की लांछनाएं तथा भर्त्सनाएं ही मिली हैं । वहाँ उसकी प्रतिभा को समझनेवाला कोई नहीं था । मल्लिका का कथन इसको स्पष्ट करता है - "उस व्यक्ति को, जिसे उसके निकट के लोगों ने आज तक समझने का प्रयास नहीं किया । जिसे घर में और घर से बाहर केवल लांछना और प्रताडना ही मिली है ।"[1] गाँव के लोग कालिदास की दिव्य प्रतिभा के अनभिज्ञ है । इसीलिए अम्बिका भी उस पर आरोप लगाती है - "वह व्यक्ति आत्मसीमित है । संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं ।"[2]

कालिदास के जीवन की विसंगति तब प्रबल हो जाती है जब वह राज्य की ओर से सम्मनित हो जाता है । मल्लिका और वहाँ की पर्वत भूमि छोडकर वह उज्जयिनी जाना नहीं चाहता है । अपने निर्मल परिवेश से कट जाने पर उसका जीवन उखड जाएगा यही चिन्ता उसे सालती रही । इसीलिए वह मल्लिक से कहता है - "यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड जाऊँगा ।"[3] अन्त में अपना मन न चाहने पर भी कालिदास जाने केलिए तैयार हो जाता है । उज्जयिनी पहुँचकर प्रियंगुमंजरी से विवाहर करके नया जीवन शुरु करने पर भी वह विसंगति की पकड से अपने को न बचा सका । राजकीय मुद्राओं का क्रीतदास बनकर जीने की विवशता उसकी विसंगति को बढा देती है । कालिदास काश्मीर का शासक बनकर चला जाता है । लेकिन वहाँ उसे शान्ति नहीं मिलता । वहाँ से सब कुछ त्यागकर वापस चला आता है । एक थका-हारा हताश आदमी-सा वह मल्लिका के द्वार पर खडा होता है । लेकिन मल्लिका के जीवन के यथार्थ से परिचित होते ही कालिदास की विसंगति दुगुनी हो जाती है । वह वापस जाने केलिए मज़बूर हो जाता है ।

---

1. आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश, पृ: 24.
2. वही - पृ: 25.
3. वही - पृ: 48.

कालिदास के जीवन की विसंगति केवल उसकी नहीं आधुनिक मानव की है । आधुनिक मानव की यही नियति है कि जीवन पथपर अग्रसर होने का उसका हर प्रयत्न उसे पराजय की ओर ले जाता है । परिस्थितियाँ उसका नियंत्रण करती हैं । परिस्थितियों से समझौता किये बिना वह जी नहीं सकता । लेकिन परिस्थितियाँ कभी कभी इतनी तीव्र हो जाती हैं कि उसकी पकड से बच जाना मुश्किल है । अतः उसका जीवन निरर्थक हो जाता है ।

लहरों के राजहंस

"लहरों के राजहंस" मोहन राकेश का दूसरा सशक्त नाटक है । इसका कथानक "आषाढ का एक दिन" के समान इतिहास पर आधृत है । लेकिन "इतिहास का प्रयोग केवल समकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया गया है ।"[1] "लहरों के राजहंस" का सम्बध समकालीन जीवन से है । स्वयं राकेश ने कहा भी है – "नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिप्रेक्षित किया जा सकता है । नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में आषाढ का एक दिन के अन्तर्गत है ।"[2] स्पष्ट है नंद और सुन्दरी के माध्यम से नाटककार आधुनिक जीवन की विषमताओं पर दृष्टि डालना चाहता है ।

"लहरों के राजहंस" में अनस्तित्व की तडप अत्यन्त तीव्र रूप में मुखरित है । नाटक में नंद की स्थिति आधुनिक द्विविधा ग्रस्त मानव की स्थिति के समान है । नंद अपनी पत्नी सुन्दरी के सौन्दर्य पर आकृष्ट है । सुन्दरी भी नंद को अपने सौन्दर्याकर्षण में बाँध रखना चाहती है । नंद सुन्दरी पर आसक्त होने पर भी अपने बडे भाई बुद्ध के मार्ग को श्रेष्ठ समझता है । सही निर्णय न कर पाने की स्थिति में वह लहरों पर तैरनेवाले राजहंस के समान अस्तित्वहीन बन जाता है । निर्णय लेने की असमर्थता उसके जीवन की विसंगति है ।

---

1. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि – मोहन राकेश, पृः 166.
2. लहरों के राजहंस – मोहन राकेश, पृः 42.

शिकार केलिए निकले नंद रास्ते में कलांति से पीडित तथा बिना घाव के मरे मृग को देखता है । इस थके हुए मृग की मृत्यु नंद में जीवन की विसंगति का बोध उत्पन्न करती है । वह सोचता है कि मनुष्य अपनी जीवन यात्रा में विभिन्न संघर्षों से लडते लडते मृग के समान मर मिटने केलिए अभिशप्त है । मृत्यु का एहसास नंद को अधिक चिन्ताशील बना देता है ।

सुन्दरी अपने रूप सौन्दर्य से नंद को बाँध रखना चाहती है । पति को अपने वश में रख लेना वह अपने अस्तित्व की सार्थकता समझती है । वह कहती है "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतमबद्ध बना देता है ।"[1] सुन्दरी के मन में बुद्ध के प्रति घृणा है । इसीलिए वह यशोधरा के दीक्षा ग्रहण के दिन कामोत्सव का आयोजन करती है । लेकिन प्रतीक्षा के विरुद्ध कमोत्सव की पराजय उसके सारे अस्तित्व को खंडित कर देती है । अपने अस्तित्व को बनाए रखने का सारा प्रयत्न निष्फल होने पर सुन्दरी पहले पहल जीवन की विसंगति का सामना करती है । अपनी सारी महत्वाकांक्षाओं को चकनाचूर होते देख कर वह छटपटाती है । वह क्षत-विक्षत होकर कहती है - "मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ । किसी का षड़यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता ।"[2]

सुन्दरी उस आधुनिक नारी की प्रतिनिधि है जो पराजय स्वीकार करने केलिए तैयार नहीं है । नाटक में अन्त तक सुन्दरी नंद को अपने आकर्षण में बाँध रखने का प्रयत्न करती है । लेकिन बुद्ध से क्षमा माँगने गये नंद बुद्ध के प्रभाव से सिर का मुंडन कराता है । मुंडित शिर सुन्दरी के पास लौट आये नंद को देखकर सुन्दरी एकदम विचलित हो जाती है । इस विकट स्थिति का सामना करना सुन्दरी के जीवन की सब से बडी विडम्बना है ।

---

1. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश, पृ: 43.
2. वही - पृ: 75.

नंद और सुन्दरी के जीवन की विसंगति समसामयिक जीवन की विसंगति है । आधुनिक जीवन जीनेवाले हर एक स्त्री-पुरुष की स्थिति इन से भिन्न नहीं ।

आधे-अधूरे

"आधे-अधूरे" मोहन राकेश का सामाजिक नाटक है जो आर्थिक विपन्नता के ताने बाने से बुना गया है । इसमें आधुनिक जीवन के बदलते परिप्रेक्ष्य में विघटित होते मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बधों का जीवन्त चित्रण उपलब्ध है । इसकी रचना दृष्टि को स्पष्ट करते हुए स्वयं नाटककार ने लिखा है - "यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की महानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेलती जा रही हैं ।"[1]

"आधे-अधूरे" का नायक महेन्द्रनाथ व्यापार में असफल होकर घर बैठता है । उसकी पत्नी सावित्री की दृष्टि में वह एक अपूर्ण पुरुष है । उसका व्यक्तित्व अधूरा है । महेन्द्र से असन्तुष्ट सावित्री अन्य पुरुषों से संपर्क रखती है । अन्त में उसको यह एहसास होता है कि महेन्द्र की अपूर्णता अन्य पुरुषों में भी व्याप्त है । इसलिए उसकी तलाश अधूरी रह जाती है ।

महेन्द्र के घर की सारी जिम्मेदारी सावित्री को वहन करनी पडती है । वह नौकरी करके घर को संभालती है । घर में बडी लडकी बिन्नी, छोटी लडकी किन्नी और बेटा अशोक भी हैं । सभी मनमाने ढंग से गुज़र रहे हैं । एक ही घर के सदस्य होने पर भी सब एक दूसरे से कटे हुए हैं ।

---

1. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - मोहन राकेश, पृ: 172.

अपने घर की स्थिति को सुधारने केलिए सावित्री अथक परिश्रम करती है । बेटा अशोक को नौकरी दिलाने के उद्देश्य से वह अपने बोस सिंघानिया से सम्बध जोडती है, "इसीलिए कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके । मेरे अकेली के ऊपर बहुत बोझ है इस घर का जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोनेवाला हो सके ।"[1] लेकिन उसका सारा प्रयत्न बेकार सिद्ध हो जाता है । उसके जीवन की विसंगति तब शुरू होती है जब उसका बेटा अशोक सिंघानिया के प्रति घृणा प्रकट करता है ।

सावित्री के जीवन की विसंगति तब प्रबल हो जाती है जब उसकी बेटी बिन्नी उसके ही प्रेमी के साथ भाग निकलती है । फिर भी सावित्री हार स्वीकार करने को तैयार नहीं है । वह फिर पूर्ण पुरुष की तलाश करती है । जिस पूर्णता की इच्छा में वह जिन व्यक्तियों से सम्बध स्थापित करती है वे सब उसको अधूरा बनाकर छोड भी जाते हैं । अन्त में मानसिक व्यथा से पीडित सावित्री घरवालों से घृणा प्रकट करती हुई कहती है - "यहाँ पर सब लोग समझते क्या है मुझे! एक मशीन, जो कि सब केलिए आटा पीस पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है! मगर किसी के मन में ज़रा सा ख्याल नहीं है इसकेलिए कि कैसे मैं ...!"[2]

सावित्री की दृष्टि में उसके संपर्क में आये सभी पुरुष अपूर्ण हैं । पुरुष चार का कथन इसको अधिक स्पष्ट करता है - "असल बात इतनी कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी ज़िन्दगी में, तो साल दो साल बाद, तुम यही महसूस करती कि तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है ।"[3] इस कथन से सावित्री अधिक लाचार हो जाती है । पूर्णता की तलाश में फिरती सावित्री अन्त में बेसहारा होकर खडी रहती है । अब केवल एक ही सहारा है - महेन्द्र । सावित्र के जीवन की सब से बडी विसंगति यहाँ दर्शनीय है ।

---

1. आधे-अधूरे - मोहन राकेश, पृ: 53.
2. वही - पृ: 43.
3. वही - पृ: 90.

"आधे-अधूरे" के नायक महेन्द्र भी सावित्री के समान विसंगति बोध से ग्रस्त है । अपनी पत्नी के वेतन पर जीवन निर्वाह करने की बेबसी उसके अन्तर्मन में एक ग्रंथि पैदा करती है । लडका अशोक को छोडकर घर के सभी लोग उस से घृणा करते हैं । अपने मन की व्यथा वह इन शब्दों में व्यक्त करता है - "मैं इस घर में एक रबड-स्टैंप भी नहीं, सिर्फ एक रबड का टुकडा हूँ - बार बार घिसा जानेवाला रबड का टुकडा ।"[1] अपनी पत्नी के पुरुष मित्रों का पता लग जाने पर भी वह चुपचाप उसके साथ जीवन बिताता है । पत्नी के पुरुष मित्रों के घर आते वक्त वह किसी न किसी बहाने घर से बाहर जाता है । एक पति के जीवन में इस से बढकर विसंगति क्या है?

महेन्द्र और सावित्री के माध्यम से नाटककार ने आधुनिक मानव की नियति को व्यक्त किया है । आज कल मुल्य विघटन सभी क्षेत्रों में व्याप्त है । इसने मनुषय के बीच की घनिष्टता को मिटा दिया है । आपसी सहानुभूति नष्ट हो गयी है । आज व्यक्ति अपने को समझने में भी असमर्थ है । आज के सन्दर्भ में उसका कोई अस्तित्व नहीं है । मुसीबतों से टकराकर बिखर जाना उसकी नियति है ।

धर्मवीर भारती -- "अंधा-युग" और विसंगतिबोध

धर्मवीर भारती का "अन्धा युग" पौराणिक कथा पर आधारित आधुनिक काव्य-नाटक है । इसमें महाभारत युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में श्रीकृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की घटनाओं का विवेचन है । यह सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है । इसके सम्बध में आचार्य नन्द

---

1. आधे - अधूरे - मोहन राकेश, पृ: 38.

दुलारे वाजपेयी अपना मत लों व्यक्त करते हैं - "हिन्दी के क्षेत्र में यह कार्य उसी भूमिका का है जिस भूमिका का कार्य टी. एस. इलियट के "मरडर इन द कैथेड्रल" नामक कृति का है ।"[1]

धर्मवीर भारती ने "अंधा-युग" में महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि में युद्धोत्तर कालीन जीवन में व्याप्त प्रतिशोध, निराशा, रक्तपात, ध्वंस क्रूरता, बर्बरता, विवेकशून्यता संत्रास एवं कुण्ठा आदि का सफल एवं सशक्त अंकन किया है । "इस कृति में जितने भी पात्र एवं घटनाएँ हैं, वे पौराणिक तो हैं ही , इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वे आधुनिक सत्य एवं महायुद्धोत्तर कालीन संवेदना अथवा युगबोध को भी व्यंजित करते हैं ।"[2] नाटककार ने रचना के आरम्भ में ही युद्धोत्तर कालीन परिस्थितियों एवं आधुनिक युगबोध की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है -

"युद्धोपरान्त,
यह अंधा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं

यह कथा उन्हीं अंधों की है
या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से ।"[3]

स्पष्ट है युद्ध की विभीषिका ने, जीवन में जो सत्य एवं सुन्दरथा, नष्ट कर दिया है । शेष रह गयी मात्र विकृतियाँ एवं विसंगतियाँ ।

---

1. नन्द दुलारे वाजपेयी - धर्मयुग 12 अगस्त 1967, पृः 19.
2. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - सुरेश गौतम, पृः 38.
3. अंधायुग - धर्मवीर भारती, पृः 10.

अंधायुग के प्रत्येक पात्र को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर मानवीय दृष्टि से देखने परखने का प्रयास नाटककार ने किया है । इसके सभी पात्र - धृतराष्ट्र, गाँधारी, संजय, अश्वत्थमा, विदुर, कृतवर्मा, कृपाचार्य, युधिष्ठिर, प्रहरी आदि- सब के सब विसंगतिबोध के शिकार हैं ।

"अंधा युग" के प्रहरियों का जीवन वास्तव में विसंगति का उत्तम उदाहरण है । नाटक में प्रतीकात्मक रूप में इनका चित्रण हुआ है । नाटककार के शब्दों में "प्रहरी जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएँ देते चलते हैं, बहुत कुछ ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भाँति हैं , किन्तु, उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है ।"[1] उन्हें सामान्य जन के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है । नाटक में वे प्रहरी होने पर भी अपने अधिकारों से वंचित हैं । सूने गलियारे में दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ चलना ही उनकी नियति है । उनकी विसंगति को नाटककार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है -

"अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थहीन
सूने गलियारे में
पहरा दे-देकर
अब थके हुए हैं हम
अब चके हुए हैं हम ।"[2]

---

1. अंधा युग - धर्मवीर भारती, {निर्देश}, पृः 6.
2. वही - पृः 13.

प्रहरियों की स्थिति उस मानव की है जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में सब अधिकारों से वंचित होकर जीवन बिताने केलिए अभिशप्त है । स्वतंत्रता के पश्चात आम जनता के उद्धार केलिए बहुत अधिक योजनाओं की घोषणाएं की गयीं । "राजनीति की कई चिन्तन धाराओं ने बीसवीं शताब्दी के आरंम्भ में यह दावा पेश किया था कि वे मानव मुक्ति को ही लक्ष्य बनाकर चल रही हैं पर उन्होंने जिन व्यवस्थाओं को स्थापित किया उनको जन तंत्र का नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओं में तंत्र औरों के ही हाथ में रहा "जन" तो ज्यों का त्यों दास बना रहा ।"[1] स्पष्ट है आधुनिक व्यक्ति इन प्रहरियों के समान विसंगत जीवन बिता रहा है । प्रहरियों की निर्लिप्तता, निष्क्रियता एवं उदासीनता आधुनिक मानव की है ।

"अंधा-युग" का युयत्सु विसंगतिबोध से ग्रस्त दूसरा प्रमुख पात्र है । युद्ध के समय युयुत्सु ने धर्म की रक्षा केलिए युद्ध करने का निश्चय लिया । उसने धर्म केलिए कृष्ण और पाँडवों की ओर से लडते हुए स्वयं अपने भाइयों का संहार कर अपने कर्तव्य का निर्वाह किया । लेकिन युद्ध के उपरान्त युयुत्सु को पाँडवों की ओर से कठिन व्यग्यपूर्ण बातें सुननी पडीं । जब दोनों ओर से भर्त्सनाएं सुननी पडीं तब वह किंकर्तव्यविफढ होकर खडा रहता है । विवशता और टूटन उसका एकमात्र सहारा बन जाता है । धर्म पर अडिग रहनेवाले आधुनिक व्यक्ति को स्थिति युयुत्सु से भिन्न नहीं ।

नाटक के अन्य पात्र अश्वत्थामा, गाँधारी युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र और संजय भी विसंगति बोध से ग्रस्त हैं । युद्ध के बाद जब पाँडव पक्ष के लोग क्लांति से सुषुप्ति में लीन थे तब दुर्योधन के परम हितैषी अश्वत्थामा ने पाँडवों के पुत्रों के अलावा बहुत से सैनिकों की भी हत्या की । यही नहीं पाँडवों की ओर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग भी करता है । अन्त में किये हुए अपराधों पर वह व्यथित बनता है । इस से बढकर विसंगतिबोध हो ही क्या सकता है ।

---

1. मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती, पृ: 74.

"मैं क्या करूँ?
मातुल
मैं क्या करूँ?
वध मेरे लिये नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिये मनोग्रंथि।"[1]

अश्वत्थामा पहले श्रीकृष्ण के महत्व को धिक्कारता है। लेकिन अन्त में उनकी महिमा स्वीकार करता है। यह भी वास्तव में उसके जीवन की विचित्र विसंगति है। "उसका चरित्र अपने आप में ध्वंसात्मक, पीडादायक और एक उलझी हुई गुत्थी है।"[2]

गाँधारी नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति को अन्ध मनोवृत्तियों की संज्ञा देती है। मिथ्याडंबरों से ग्रसित नैतिकतावादी जगत से उसको घृणा थी। इसीलिए उसने चक्षुपटल पर पट्टियाँ बाँध कर अंधता को स्वीकृति दी। विनाशकारी युद्ध का मूल कारण कृष्ण ही हैं ऐसा जानकर वह कृष्ण को शाप देती है। कृष्ण गाँधारी का शाप स्वीकार करते हैं यह अवस्था देखकर गाँधारी के मन में विसंगतिबोध उत्पन्न होता है। गाँधारी शाप देने केलिए विवश हो जाती है। यह विवशता भी उसकी विसंगति है।

नाटक में संजय भी विसंगतिबोध से मुक्त नहीं है। वह सत्य का समर्थन करनेवाला है। लेकिन युद्ध के विवरण देते वक्त असत्य और अन्याय का कथन कहना ही पडता है। वास्त में उसके जीवन को यह विसंगति है।

"अंधों को सत्य दिखाने में क्या
मुझ को भी अंधा ही होना है।"[3]

---

1. अंधा युग - धर्मवीर भारती, पृ: 35.
2. अंधा युग एक सृजनात्मक उपलब्धि - सुरेश गौतम, पृ: 91.
3. अंधा युग - भारती, पृ: 77.

युधिष्ठिर की विसंगति नाटक के अंत में दर्शनीय है । विजयी होने पर भी विजय को विजय के रूप में स्वीकारने में वह असमर्थ हो जाता है -

"और विजय क्या है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल तिल कर फलीभूत
होनवाला आत्मघात
और पथ कोई भी शेष
नहीं अब मेरे आगे ।"[1]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भारती का "अंधा युग" विसंगति का दस्तावेज़ है । उसके सभी पात्र विसंगति के शिकार हैं । महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि में द्वितीय महायुद्धोत्तर भारतीय जनता की दशा का चित्रण भारती ने किया है । "अंधा युग" का एक एक चरित्र मात्र महाभारत का नहीं, बल्कि स्वतंत्र भारत का एक एक व्यक्ति है जो न चाहते हुए भी विसंगत जीवन बिताने केलिए अभिशप्त है ।

लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में विसंगतिबोध

अब्दुल्ला दीवाना

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल हिन्दी के आधुनिक नाटककारों में सर्वाधिक जागरूक रचनाकार हैं । उन्होंने वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से अपने नाटकों में सार्थक प्रयोग किये हैं । "अब तक उनके तेईस पूर्णांगी नाटक, सात संग्रह और दो बाल नाटक सामने आ चुके हैं ।"[2] वे निर्देशक, अभिनेता, रंगकर्मी हैं और नाट्य-समीक्षक भी ।

---

1. अंधा युग - पृ: 104.
2. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृ: 11.

"अब्दुल्ला दीवाना" समकालीन सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रहार करनेवाला विसंगत नाटक है । "आज जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त विघटन पर तीखा व्यंग्य करता हुआ वह खुरदुरे यथार्थ से साक्षात्कार करता है ।"[1] अबुल्ला उस नैतिकता का प्रतीक है जिसे मारकर नया उच्च वर्ग आगे आया है । उसी वर्ग का खोखलापन और नंगापन प्रकट करना ही नाटककार का उद्देश्य है । "यहाँ नाटककार का प्रमुख अभिप्राय सामाजिक चेतना जगाना है, न कि एक भावप्रधान, कथाप्रधान नाटक से मनोरंजन कराना ।"[2]

"अबदुल्ला दीवाना" की रचना-शैली एब्सर्ड नाटकों की है । एब्सर्ड नाटकों की एक विशेषता यह है कि बाहरी तौर पर नाटक की घटनाओं के संयोजन, संवाद या चरित्र-अभियोजन में कोई, क्रमबद्धता नहीं होती है । शिल्प के स्तर पर ही उसमें आंतरिक संगठन दीखता है । दर्शकों और पाठकों को नाटक की अर्थरूपी आत्मा को पहचानना पडता है । इस दृष्टि से डॉ. लाल का अब्दुल्ला दीवाना पूरी तरह एब्सर्ड शैली का नाटक ठहरता है ।

प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगति दर्शाना वर्तमान नाटक की एक प्रमुख प्रवृत्ति है । अब्दुल्ला दीवाना एक ऐसी रचना है जिसमें आधुनिक मानव की त्रासदी का चित्रण है । "अब्दुल्ला एक व्यक्ति विशेष नहीं है वह हमारे जीवन का एक बृहत्तर सत्य है, हमारा नैतिक मूल्य है, हमारी देश की राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है ।"[3]

स्वतंत्रता के पश्चात भारत के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में बहुत अधिक परिवर्तन आये हैं । सामान्य जीवन संत्रासमय बन उठा । स्वतंत्रता से पहले के समाज में कुछ आदर्श थे और कुछ स्वप्न और आशाएं थीं । लेकिन स्वातंत्र्योत्तर

---

1. कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल - सम्पादक डॉ. रघुवंश, पृ: 94.
2. अब्दुल्ला दीवाना - लक्ष्मीनारायण लाल (भूमिका), पृ: 14.
3. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल का नाट्य साहित्य - नरनारायण रा, पृ: 105.

UNIVERSITY LIBRARY * COCHIN - 682 022 * SCIENCE AND TECHNOLOGY

समाज में पूँजीवादी सत्ता बढती गयी । जीवन की दिशा ही अनिश्चित हो गयी इसकी सर्वाधिक यातना युवा-पीढी को झेलनी पडी । "देश ने जिस प्रजातंत्र को अपनाया, वह अर्थ के आगे घुटने टेकता चला गया । यहाँ तक कि न्याय व्यवस्था भी अर्थ की क्रीतदास बन गयी ।"[1] "अब्दुल्ला दीवाना" सत्ताधारियों की इसी मृत चेतना का प्रतीक है ।

प्रस्तुत नाटक में लाल ने पुरुष, युवक और युवती आदि (चरित्रों) की भूमिकाएँ बदल-बदलकर मूल्यों की आन्तरिक विसंगति और खोखलेपन को उभारा है । पुरुष कभी अरबी सौदागर बन जाता है, युवक कभी गंवार, युवती कभी कुलीन स्त्री । नाटक में अब्दुल्ला की हत्या में इनका हाथ अवश्य है ।

अब्दुल्ला नवीन युग के मरे हुए मूल्यों का प्रतीक है । स्वतंत्रता के बाद जो समृद्ध वर्ग पनप उठा है, उसने अब्दुल्ला रूपी पुराने मूल्यों की हत्या कर नये मूल्य (नये अब्दुल्ला को) जन्म दिया है । "अब्दुल्ला की हत्या में युवा वर्ग का भी उतना ही हाथ है जितना अवसरवादी "पुरुष" और सत्तालोलुप राजनीतिज्ञ का ।"[2] उसकी हत्या में सभी शामिल हैं । नाटक की रचना इस प्रकार हुई है कि पढनेवाले को अन्त में यह महसूस होता है कि मैं ने अब्दुल्ला की हत्या की है ।

आज शासन व्यवस्था में आम आदमी का प्रमुख स्थान है । लेकिन वह असल में अपने अधिकारों से वंचित है । "आम आदमी की आवज़ मात्र वोट देना रह गयी है जिसमें कोई शक्ति नहीं । वह व्यक्ति से वोट होकर रह गया है । सत्ताधारियों के निर्णयों को, न्याय के निष्पक्ष न होने पर वह कहीं ललकार भी नहीं सकता - इसीलिए यह कैसी आज़ादी है, "जहाँ नहीं चल सकता आम आदमी का मंत्र' यह है आज की स्थिति । आम आदमी विसंगत जीवन बिताने केलिए बाध्य हैं, यही हकीकत है ।

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृ: 214.
2. अब्दुल्ला दीवाना - डॉ. लाल (भूमिका), पृ: 15.
3. वही - पृ: 16.

डॉ. लाल ने पूरे नाटक में नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों की विसंगति को दिखा दिया है । इस के जज, सरकारी वकील, पुरुष, युवक, युवती सब के सब अन्याय के समर्थन करनेवाले हैं । सचमुच प्रजातंत्र पर एक तीखा व्यग्य है "अब्दुल्ला दीवाना"। प्रजातंत्र में न्याय की संभावनाएँ चुक गयी हैं । इस में न्यायाधीश का बोलते बोलते गिर जाना कनून की निस्सारता दिखाता है । आज कल प्यार और विश्वास का समाज में कोई स्थान नहीं है । मुकदमे के निर्णय में जज का वक्तव्य इस प्रकार है - "प्यार और विश्वास के बगैर ज़िन्दगी जीने की आदत डालने लगते हैं सुनो इन्हीं बातों से अब्दुल्ला दीवाना हुआ ।"[1] प्यार और विश्वास के स्थान पर आज स्वार्थ, पाखंड और अवसरवादिता मौजूद है । ईमानदार व्यक्ति पागल समझा जाता है ।

स्पष्ट है, आज़ादी आज भारतवासियों की बदकिस्मती बन गयी है । "जिसने इनसानों की जगह वोटरों को पैदा किया , भूखे और बेकार रहकर सिर्फ रोज़ी-रोटी की बात करने की आज़ादी ।"[2] आज़ाद भारत में आम आदमी की विसंगति नाटक के अन्त में चपरासी के इन शब्दों में व्यक्त है - "इसी आज़ादी के गर्भ से पैदा हुआ नया तंत्र जहाँ नहीं चलता आम आदमी का मंत्र ।"[3]

मिस्टर अभिमन्यु (1971)

मिस्टर अभिमन्यु समकालीन युग-बोध के सन्दर्भ में आधुनिक व्यक्ति के विसंगत परिस्थितियों एवं विडम्बनाओं का चित्रण करता है । यह महाभारत के चरित्र अभिमन्यु के मिथक से जुडा है ।

---

1. अब्दुल्ला दीवाना - डॉ. लाल, पृ: 88.
2. वही - पृ: 89.
3. वही ।

अभिमन्यु को चक्रव्यूह में फँसा कर सात महारथियों ने मार डाला । लेकिन "मिस्टर अभिमन्यु" व्यवस्था के चक्रव्यूह में फंसा है । महाभारत का अभिमन्यु चक्रव्यूह को तोडकर बाहर निकलने की कोशिश में वीरगति प्राप्त करता है । लेकिन मिस्टर अभिमन्यु व्यवस्था के चक्रव्यूह से बाहर निकलने की इच्छा रखता है , उसका परिश्रम नहीं करता है । "वह आज की परिस्थितियों की उपज है । उसे घेरनेवाले महारथी और हैं, चक्रव्यूह को नेचर भी और है । व्यक्ति का अन्तः संघर्ष ही आज का चक्रव्यूह है ।"[1]

नाटक का नायक राजन उस युवावर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो सरकारी सेवा में भर्ति होकर अन्याय को दूर करना चाहता है । कलेक्टर राजन का पिता एक मध्यवर्गीय व्यक्ति है । राजन की पत्नी विमल भौतिक सुखों एवं सामाजिक सम्मान में गर्व अनुभव करनेवाली मध्यवर्गीय औरत है । गयादत्त भ्रष्ट राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करता है । केज़रीलाल पूँजीपति है । इन सब के बीच में कर्तव्य पालन केलिए विवश राजन । "दरअसल राजन एक अभिशप्त व्यक्ति है । वह त्यागपत्र देना चाहता है पर देता नहीं, वह केज़रीलाल का गोदाम सील करता है, पर आदेश की अवहेलना नहीं कर पाता । वह व्यवस्था को नापसंद करता है, पर उसे तोड नहीं पाता । वह व्यवस्था के बाहर नहीं आता । बाहर आने के अपने खतरे हैं । भीतर घुटन है पर सुरक्षा भी है । बाहर मुक्ति है, लेकिन मृत्यू भी है ।"[2] कलक्टर राजन की यही अवस्था है । व्यवस्था के चक्रव्यूह में फंसकर कराहना ही उसकी नियति है ।

स्वतंत्र भारत के हर अफसर की दशा कलक्टर राजन से भिन्न नहीं है । हर एकव्यक्ति राजन का जैसा है । "मिस्टर अभिमन्यू के माध्यम से उठाया गया प्रश्न वह बहुत से लोगों का, शायद हम में से प्रत्येक का प्रश्न हो सकता है ।

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृ: 202.
2. मिस्टर अभिमन्यु - लक्ष्मीनारायण लाल (भूमिका) ।

क्या हम भी किसी ऐसे चक्रव्यूह में नहीं घिरे हुए हैं जिस से बाहर निकलने की पर्याप्त इच्छा और संकल्प हमारे पास नहीं । हमारी त्रासदी यह नहीं कि हम अभिमन्यू हैं , बल्कि यह है कि हम अभिमन्यू नहीं हैं । हम मिस्टर अभिमन्यु हैं ।"[1]

मिस्टर अभिमन्यू और महाभारत के अभिमन्यु की लडाई में अन्तर है । राजन की लडाई (मिस्टर अभिमन्यु) ऐसे व्यक्ति की लडाई है जो निर्णय लेने में असमर्थ है । लेकिन महाभारत के अभिमन्यु की लडाई उस व्यक्ति की है जो निर्णय ले चुका है । "हम सब किसी न किसी चक्रव्यूह में घिरे हुए हैं और उसका विरोध भी हम नहीं कर सकते । अपनी-अपनी कायरताओं के कारण या फिर इस कारण कि हम सब मिस्टर अभिमन्यु है, महाभारत के अभिमन्यु की तरह वीर, साहसी और अन्ततः शहीद अभिमन्यु नहीं ।"[2]

अभिमन्यु के मिथक के माध्यम से नाटककार ने मिस्टर अभिमन्यु की (आधुनिक मानव) की त्रासदी को व्यक्त किया है । "यह त्रासदी मात्र उसी की नहीं , नौकरशाही के चक्रव्यूह में फंसे प्रत्येक अफसर की, आदमी की है ।"[3]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि जीवन की सुविधाओं के प्रति हमारे मोह ने हमें कायर बना दिया है । निर्णय अनिर्णय की द्विविधा में हम विसंगत जीवन बिता रहे हैं । हम मिस्टर अभिमन्यु के समान व्यवस्था के चक्रव्यूह के भीतर ही अपनी लाश ढोते रहने केलिए विवश हैं । हमारी त्रासदी "एक ऐसी लाश की त्रासदी है जो जीना चाहती है और अन्ततः महसूस करती है कि वह लाश ही है ।"[4]

---

1. मिस्टर अभिमन्यु - लक्ष्मीनारायण लाल (भूमिका) ।
2. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृः 89.
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सक्सेना बेदी, पृः 199.
4. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृः 89.

मुद्राराक्षस के नाटकों में विसंगतिबोध

तिलचट्ठा

मुद्राराक्षस का "तिलचट्ठा" समसामयिक जीवन की विषमताओं, विसंगतियों और विडम्बनाओं को उभारता है । नाटककार के शब्दों में - ""तिलचट्ठा" मानवीय नियति की एक ऐसी त्रासदी है जिसे निरन्तर अपने - मानवीय-ऐतिहासिक आधार की तलाश है । नाटक में चरित्र नहीं - यह त्रासदी ही प्रमुख है, यह सत्य है । बाकी सब कुछ - पात्र प्रतीक, देश, काल, घटनाएं सब सिर्फ उसकी वहाँ पर मौजूदी को प्रामाणिकता देनेवाले दस्तावेज़ हैं ।"[1] प्रस्तुत कथन से नाटककार की दृष्टि स्पष्ट है कि नाटक में जिन घटनाओं और पात्रों को ग्रहण किया गया है वे देशकाल की सीमा से बंधे न होकर सार्वभौमिक हैं ।

"तिलचट्ठा" की नाट्यशैली विसंगत नाटक की है । नाटक के प्रमुख पात्र देव और केशी के वार्तालाप से नाटक शुरू होता है । वार्तालाप का विषय ऊल जलूल प्रतीत होता है । वे तिलचट्ठा, मराहुआ कुत्ता, घड़ी का चटखा हुआ शीशा, अस्पताल को हड़ताल, बकरे की बोली बोलनेवाला काला आदमी आदि विषयों पर बातचीत करते हैं । इन संवादों के मध्य दो स्वप्न दृश्य हैं । एक जंगल में भटकते देव और केशी की मुलाकात एक पिंडारी से होती है जो केशी को वस्त्रों से खींच लेता है । दूसरा दृश्य तिलचट्ठे से सम्बधित है जो केशी से चिपटता है । वार्तालाप उनके होनेवाले बच्चे तक आकर रुक जाता है । यहीं केशी और देव के सम्बधों की विसंगति उभर आती है । केशी गर्भवती है परन्तु वह देव से नहीं क्योंकि देव पुसत्वहीन है । उसे ज्ञात है कि केशी एक डाक्टर से प्रेम करती है । उसेके जीवन में उस से बढकर विसंगति क्या हो सकती है? अन्त में केशी गर्भपात केलिए इंजक्शन लेती है और देव नींद की गोलियाँ खाकर अपनी पीडा से निवृत होता है ।

---

1. तिलचट्ठा - मुद्राराक्षस, चन्द बातें ।

नाटक में देव और केशी आधुनिक दम्पति का प्रतिनिधित्व करते हैं । देव और केशी का जीवन आधे-अधूरे के महेंन्द्र और सावित्री से मिलता जूलता है । आधे-अधूरे का महेंन्द्र सावित्री के वेतन पर जीवन निर्वाह करता है इसीलिए चाहकर भी वह उसे छोडकर जा नहीं सकता । यहाँ देव की भी स्थिति ऐसी है । केशी अस्पताल में नर्स है । जीवन निर्वाह केलिए उसका वेतन अनिवार्य है ।

देव आधुनिक मानव का प्रतिनिधित्व करता है । स्वतंत्रता के पश्चात भारत की अर्थिक व्यवस्था सुदृढ नहीं हो पायी । साधारण लोग अर्थिक संकट के शिकार होने लगे । अर्थिक आत्मनिर्भरता केलिए पति-पत्नी दोनों काम करने लगे । फिर भी अर्थिक विवशता ने उनके जीवन को भी विवश बना दिया । केशी और देव एसे पति-पत्नी का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

नाटककार ने देव के चरित्र के ज़रिए आधुनिक मानव की विसंगति को चित्रित किया है । अपनी पत्नी का अनैतिक सम्बध जानने पर भी उसके साथ जीने केलिए वह विवश है । केशी की विसंगति यह है कि अपने पति को पुसंत्वहीन जानकर भी उसके साथ सोने केलिए वह विवश है । समसामयिक मध्यवर्गीय पति-पत्नी की दशा देव और केशी से भिन्न नहीं है । देव और केशी के जीवन की विसंगति वस्तुतः मध्यवर्ग की विसंगति है । डॉ. रीता कुमार नाटक के सम्बध में लिखती हैं - "इस नाटक में नाटककार ने स्त्री-पुरुष सम्बधों की निर्मम चीर-फाड के साथ वर्तमान युग के राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिवेश में व्याप्त विसंगति और अव्यवस्था में पिसते और कराहते हुए मनुष्य की चीख को पकडने का प्रयास किया गया है ।"[1]

---

1. स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में - डॉ. रीता कुमार सं. 1980, पृः 134.

तेन्दुआ

साठोत्तर हिन्दी नाटकों में अभिजात वर्ग की क्रूरता का चित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ है । 1950 के बाद भारत के सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन आये हैं । नैतिक मूल्यों का पतन सब कहीं दिखाई देने लगा । दाम्पत्य जीवन में भी बिखराव दिखाई पडता है । स्त्री-पुरुष सम्बधों की पवित्रता नष्ट हो गयी । निम्न वर्ग के लोग अभिजात वर्ग की क्रूरता के शिकार होने लगे । आर्थिक संकट के कारण साधारण व्यक्ति का जीवन निरर्थक बन गया है । वह एक प्रकार का विसंगत जीवन जीने केलिए विवश हो जाता है ।

मुद्राराक्षस का "तेंन्दुआ" ऐसे एक साधारण व्यक्ति की दर्दभरी कहानी व्यक्त करनेवाला प्रतीक नाटक है । इसके दोनों स्त्री पात्र मिसिज़ मदान और रेणुराय अभिजात वर्ग की अतृप्त नारियाँ हैं । वे दोनों काम विकृति के शिकार हैं । "उन्हें यौनवासना को शान्त करने के सिवाय और कोई काम नहीं, आर्थिक समस्या नहीं, किसी सामाजिक उत्तरदायित्व की प्रेरणा नहीं ।"[1] उनकी करतूतों में स्त्री-पुरुष के काम सम्बधों की विसंगति दिखाई पडती है ।

यौन अतृप्ति से असन्तुष्ट मिसिज़ मदान एक गरीब माली को "टार्यर" की नयी तकनीकों से दुःख पहुँचाती है । जब माली यंत्रणा से कराहता है तब मिसिज़ मदान आत्मतुष्टि से पुलकित हो जाती है । मिसिज़ मदान के समान मिसिज़ रेणुराय भी यौन विकृति की कुण्ठा से पीडित है । वह अपने पति भूषणराय से कहती है - "नाऊ यू आर ए ब्रूटा तुमने मेरा दिन खराब कर दिया और ब्रूट भी नहीं ला सके ।"[2] उसके इस कथन से स्पष्ट है कि वह यौन विकृति की कुण्ठा से पीडित है । उसकी मानवीय वृत्ति मर चुकी है । आर्थिक सुविधा ने उसे इस दिशा में पहुँचा दिया है ।

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - शेखर शर्मा, पृः 240.
2. तेन्दुआ - मुद्राराक्षस, पृः 44.

"तेंन्दुआ" में नाटककार ने स्त्री-पुरुष सम्बधों की विसंगति को चित्रित करने के साथ साथ आधुनिक जनसाधारण की विसंगति को भी उभारा है । माली उस जनसाधारण का प्रतीक है । उसका जीवन आज इतना विकृत हो गया है कि चाहने पर भी वह कुछ विरोध न प्रकट कर सकता । क्योंकि वह उस अभिजातवर्ग रूपी शिकंजे में पिस रहा है । उसका विरोध भी तथाकथित वर्ग को उल्लास प्रदान करता है । रेणुराय से मिसिज़ मदान का कथन इसका समर्थन करता है - "सुन तुझे एक बात बताऊ । अभी मैं ने इसे ज़रा सा छेडा तो इसने एकाएक ऐसी नज़रों से मुझे देखा कि मैं चौंक गई । ठीक वैसे ही जैसे कभी कभी मेरा तेंन्दुआ मुझे देखने लग जाता है ।"[1] स्पष्ट है उस बेचारा का विरोध मिसिज़ मदान को आनंद प्रदान करता है । उसे मालूम है कि उसका विरोध व्यर्थ है क्यों कि इस अवस्था में वह कुछ भी नहीं कर सकता । नाटक में माली उस जनसाधारण का प्रतीक है जो अभिजातवर्ग की क्रूरता के फलस्वरूप मारा जाता है । आज कल साधारण व्यक्ति की दशा माली की दशा से भिन्न नहीं ।

"तेंन्दुआ वस्तुतः एक आन्तरिक प्रतीक है जो मनुष्य के पाशविक संस्कारों को ही स्थायित करता है ।"[2] यह आज के शासन की क्रूरता और विसंगति को, गरीब की नियति को और अभिजात वर्ग की नारियों के सेक्स की नंगी भूख को व्यक्त करता है ।

यौअर्स फेथफुली

आज का युग "अर्थयुग" है । अर्थ के प्रति आकर्षण बढ रहा है । "जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थ का महत्व है । यहाँ तक कि सम्बधों के नियामक के रूप में अर्थ को अपनी महत्ता है । अर्थ के इस महत्व के कारण सम्बधों से मानवीय तत्व

---

1. तेन्दुआ - मुद्राराक्षस, पृः 63.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृः 460.

गायब होने लगा है ।"[1] लेकिन अर्थाभाव की स्थिति में व्यक्ति, अस्मिता की रक्षा केलिए झटपटाता है ।

साठोत्तर हिन्दी नाटकों में अर्थाभाव के कारण विसंगत जीवन बिताने केलिए अभिशप्त मानव की दयनीय दशा का चित्रण विपुल मात्रा में नज़र आता है । मुद्राराक्षस का "योअर्स फेथफुली" इस दिशा की ओर संकेत करता है । इसमें नागरिक जीवन की विडम्बना का चित्रण है । आधुनिक युग में आर्थिक व्यवस्था इतनी बदल गयी है कि एक व्यक्ति के वेतन से एक परिवार का जीवन मुश्किल से कटता है । ऐसी अवस्था में पति-पत्नी दोनों घर के बाहर काम करने केलिए विवश हो जाते हैं । नाटक की नायिका कंचनरूपा और उसका पति ऐसे दम्पति हैं ।

कंचनरूपा आर्थिक दबाब के कारण एक कम्पनी में स्टेनोग्राफर का काम करती है । उसका पति उसी कम्पनी में क्लार्क का काम करता है । लेकिन किसी को यह पता नहीं है कि दोनों पति पत्नी हैं । क्योंकि उस कम्पनी में पति-पत्नी को एक साथ नौकरी देने की व्यवस्था नहीं है । दफर का अफसर अनुशासन का भय देकर कंचनरूप के साथ कार्यालय में ही अनैतिकयौन सम्बध करता है । आत्मग्लनि से पीडित स्टेनो का पति आत्महत्या करता है ।

योअर्स फेथफुली में नाटककार ने कंचनरूपा के माध्यम से शासन व्यवस्था में व्याप्त मूल्यहीनता की ओर इशारा करने के साथ साथ ऐसे लाचार व्यक्तियों के चित्र को उभारा है जो आर्थिक अभाव के कारण किसी भी बोस के अधीन काम करने केलिए विवश है । नाटक में कंचनरूपा की विसंगति और उभर कर तब सामने आती है जब उसकी उपस्थिति में उसकी शोक सभा चलती है । उस से यह व्यंजित होता है कि जीवित रहते ही उसकी मृत्यु हो चुकी है । आधुनिक युता में कितने ही व्यक्तियों को

---

1. समकालीन हिन्दी नाटक चेतना के आयाम - सरला गुप्ता भूपेन्द्र, पृ: 103.

हम देख सकते हैं जो मृतप्राय होकर ज़िन्दा रहते हैं । यह आधुनिक व्यक्ति की नियति है । आज की समाज व्यवस्था ही ऐसी है । इसमें कुछ परिवर्तन की आकांक्षा व्यर्थ है ।

मरजीवा

मुद्राराक्षस का मरजीवा स्वतंत्र भारत के राजनैतिक नेताओं के भ्रष्टाचार, उनकी स्वार्थ लिप्सा और स्वाभिमान युवा पीढी के जीवन की विसंगतियों का सजीव चित्र उभारता है । स्वतंत्रता के पश्चात भारत में बेकारी इतनी बढ गयी है कि उच्चशिक्षा प्राप्त युवा लोग दिशाहीन होकर भटक रहे हैं । उनकी आस्थाएं खंडित हो गयी हैं । "मरजीवा" उनकी निराशाओं और मज़बूरियों को व्यक्त करता है ।

नाटक का पात्र "आदर्श" और "भूमि" आज के बुद्धिजीवी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं । आज का बुद्धिजीवी अपने स्वभिमान और आदर्श प्रियता के कारण युग की असंगतियों से समझौता नहीं कर सकता । उसके जीवन की विडंबना यह है कि वह साहस के साथ उसके विरुद्ध संघर्ष भी नहीं कर सकता । आदर्श एक ऐसा चरित्र है । अपने अहं के कारण उसे नौकरी से हाथ धोना पडता है । उसके बाद अपने पिता और पत्नी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में वह असमर्थ हो जाता है । मंत्री शिवराज गंधे उसकी पत्नी को नौकरी देने का बादा करता है । लेकिन शर्त यह है कि भूमि उसके साथ एक रात रहें । आत्मग्लानि से पीडित आदर्श, पिता और पत्नी के साथ नींद की गोलियाँ खाकर जीवन अन्त करने का निश्चय करते हैं । लेकिन केवल पिता की मृत्यु होती है । आदर्श फिर बिजली से पत्नी की हत्या करने का परिश्रम करता है । लेकिन फ्यूज़ उड जाने के कारण वह स्वयं बच जाता है और पुलीस का शिकार बनता है । अन्त में मंत्री पद से निष्कासित शिवराज गंधे, आदर्श को, विरोधी दल के मंत्री को गिराने केलिए प्रधान मंत्री के घर के सामने ज़िन्दा जला देने की योजना बनाता है । वह इस क्रूर कार्य को आत्मदाह की संज्ञा देकर अपने स्वार्थ को पूरा करना चाहता है ।

नाटककार ने "मरजीवा" के द्वारा यह साबित किया है कि आजकल शिक्षित और स्वाभिमानी व्यक्ति के सामने जीने के सब मार्ग बंद हैं । नाटककार के शब्दों में - "यह या तो कमेन्ट है या फिर सामाजिक परिवेश की आन्तरिक मज़बूरियों के कारण कटे हुए चरित्रों के टूटन की कहानी है ।"[1] राजनैतिक विसंगतियों का जितना जीता-जागता चित्रण इसमें हुआ है उतना अन्य किसी भी नाटक में नहीं । आज की राजनीति शिवराज गंधे जैसे नेताओं के कारण कलंकित हो गयी है । आदर्श जैसे चरित्र आज की भ्रष्ट राजनीति के उदाहरण हैं । आदर्श की अवस्था मात्र उसकी नहीं, भारत के हज़ारों नौजवानों की है जो स्वाभिमान से जीवन बिताना चाहते हैं ।

सुरेन्द्र वर्मा

सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

ऐतिहासिक परिवेश में समसामयिक जीवन की विसंगति का चित्रण सुरेन्द्रवर्मा के नाटकों की विशेषता है । उनका नाटक "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" आधुनिक परिवेश में स्त्री-पुरुष सम्बधों की विसंगति को उभारता है । "यह नाटक समसामयिक स्तर पर मूल्यों के बदलाव के सन्दर्भ में दाम्पत्य सम्बधों की गहरी और बारीक छानबीन करने के साथ साथ शासक और शासन तंत्र के समक्ष स्वयं सत्ताधारी की विवशता , नपुंसकता और त्रसदी को भी रेखांकित करता है ।"[2]

नाटक के पात्र किसी एक विशिष्ट युग के न होकर आज के सामान्य स्त्री पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं । मल्लराज्य का राजा ओक्काक पुंसत्व हीनता के कारण अपनी पत्नी शीलवती के प्रति शारीरिक दायित्व का निर्वाह नहीं कर पाता ।

---

1. मरजीवा - मुद्राराक्षस, सं. 1974, पृ: 8.
2. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच- जयदेव तनेज, पृ: 16.

शीलवती भी पत्नीत्व के परंपरागत संस्कारों के कारण वर्षों तक संघर्ष को झेलती रही । राज्य की अमात्य परिषद नियोग के द्वारा रानी शीलवती को पुत्र प्राप्त करने का आदेश देती है । इस से दोनों दुःखी हो जाते हैं । फिर भी परिषद का आदेश मानकर शीलवती नियोग केलिए तैयार हो जाती है । पर-पुरुष प्रतोष के साथ रात गुज़ोराने के बाद शीलवती सेवस के प्रति सचेत हो जाती है । उसके हृदय में स्थित सुप्त काम वासना जागृत हो जाती है । जीवन का एक नया अर्थ लेकर वह प्रतोष के पास से लौटती है । प्रतोष के संपर्क में जगी भावनाओं के सम्बध में शीलवती कहती है - उस उत्तेजना और उन्माद में उन साँसों और उच्छवासों में सारे शरीर में दौडती हुई बिजली तरंग जैसी उस तृप्ति के साथ कौन सी स्त्री है तुम्हारे संसार की जो होनेवाली संतान का ध्यान कर पाती है ....नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, महामात्य ! है केवल पुरुष के संयोग के सुख में मातृत्व केवल एक गौण उपादान है ।"[1]

सुरेन्द्रवर्मा ने इस नाटक के ज़रिए आधुनिक व्यक्ति की विसंगति को व्यक्त करने का प्रयास किया है । आधुनिक व्यक्ति को सामाजिक होने के कारण कभी कभी समाज के हित केलिए ऐसे निर्णय लेने पडते हैं जो उसकी इच्छा के विरुद्ध होते हैं । इसमें उसका व्यक्तित्व खंडित होता है । इच्छा के विरुद्ध जब अनहोनी बात होती है तब विसंगति उत्पन्न होती है । आधुनिक व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध निर्णय लेने केलिए लाचार है । चाहकर भी उसके विरुद्ध वह कुछ भी नहीं कर सकता । नाटक में ओक्काक की अवस्था ऐसी है । अमात्य परिषद के निर्णय के विरुद्ध वह कुछ भी न कह सका । शीलवती जब प्रतोष के साथ शारीरिक सुख बाँटती रही तब ओक्काक राजप्रासाद के बाहर लाचार होकर रात बिताता रहा । सब कुछ सहकर वह ज़िदा रहता है । क्योंकि ज़िन्दा रहने केलिए वह विवश है । उसके जीवन की विसंगति तब दुगुनी हो जाती है जब शीलवती निसंकोच भाव से यह कहती है -

---

1. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा - सं. 1976, पृ: 52.

"मेरी पूरी सहानुभूति है तुम्हारे साथ ।"[1] दाम्पत्य जीवन की विसंगति शीलवती के इन शब्दों में मुखर हो उठती है - "मर्यादा । धर्म । वैवाहिक सम्बध । सब मिथ्या । सब पुस्तकीय । लेकिन मुझे पुस्तक नहीं जीना है अब । मुझे जीवन जीना है ।"[2]

जाहिर है कि विसंगतिबोध आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है । यद्यपि साहित्य में यह प्रवृत्ति बहुत समय से प्रतिबिंबित दिखाई देती थी तथापि उसकी अभिव्यक्ति युद्धोत्तर साहित्य में ही स्पष्ट पायी जाती है ।

विसंगत नाट्य असल में नाट्य लेखन की एक बौद्धिक परंपरा का परिणाम है । विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया के रूप में विसंगत नाटकों का निर्माण हुआ । विसंगतिबोध की प्रवृत्ति पश्चिमी उपज प्रतीत होते हुए भी भारतीय परिस्थिति से इसका सीधा सम्बध है । हिन्दी नाटक साहित्य में इस प्रवृत्ति का श्रीगणेश भुवनेश्वर प्रसाद के ताँबे के कीडे से हुआ ।

स्वतंत्रता के पश्चात विसंगतिबोध की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल हो गयी । मोहन राकेश , लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती, मुद्रराक्षस, सुरेन्द्रवर्मा जैसे आधुनिक नाटककारों ने विसंगतिबोध के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण अपने नाटकों में सफलता के साथ किया है । अधुनातन नाटककारों ने विसंगतिबोध को चित्रित करने केलिए प्रतीकों का सहारा लिया है । आज कल विसंगति सभी क्षेत्रों में दर्शनीय है । आधुनिक व्यक्ति विसंगतिबोध का शिकार है । जब तक वह ज़िदा रहेगा तब तक विसंगति उसकी संगिनी रहेगी ।

---

1. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा, पृ: 55.
2. वही - पृ: 51.

चौथा अध्याय

स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया आयाम

स्त्री-पुरुष सम्बधों में नया आयाम

स्त्री-पुरुष सम्बध भारतीय परंपरा के अनुसार एक नितांत पवित्र सम्बध है । "स्त्री और पुरुष का दर्जा समान है, एक ही नहीं है । दोनों की जोडी अपूर्व है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे के यहाँ तक सहायक हैं कि एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव ही नहीं ।"[1]

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बध को विधिवत बनाये रखने केलिए हमारे समाज ने उन्हें विवाह रूपी डोरी से बाँध दिया है । विवाह के साथ साथ यौन पवित्रता की भावना आयी । यह भावना विधि विधानों के कारण धीरे धीरे कठोर और संकीर्ण हो गयी । पति के अतिरिक्त पर पुरुष के दर्शन , चिन्तन , स्पर्श आदि पाप समझे जाने लगे । "यह विधान कालांतर में स्त्री केलिए जड धर्म बन गया और नारी तथा पुरुष के परस्पर मुक्त सहज आकर्षण की नैसर्गिक ऊष्मा मानों सूख गयी ।"[2] इस से मुक्ति पाने की चिन्ता स्त्री को सालती रही । शादी तथा तदनन्तर के पारिवारिक जीवन में नारी के शोषण की शुरुआत होती है । पर जब नर नारी को अपनी संपत्ति मानकर उसपर अनुचित अधिकार जमाने लगा तब स्त्री-पुरुष के पवित्र सम्बध पर प्रश्न चिह्न डाला गया । युग युगों से नारी शोषण की यंत्रणा से गुज़र रही है ।

---

1. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बध - डॉ. नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी - पृ: 26.
2. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ - डॉ. शशिभूषण सिंहल - पृ: 180.

स्त्री की सामाजिक स्थिति

प्राचीन भारत में स्त्रियाँ पूज्य समझी जाती थीं । "भारत की महानता अनुसूया गर्गी मैत्रेयी लीलावती आदि महान नारियों के कारण ही जानी जाती थी ।"[1] झाँसी की रानी जैसी वीरांगनाएँ मीराबाई जैसी आध्यात्मिक विभूतियाँ भारत में मौजूद थीं ।

लेकिन मध्यकाल में नारी की स्थिति बहुत दयनीय बन गयी । वह पुरूष के हाथ की कठपुतली बन गयी । "जहाँ वैदिक युग में स्त्री स्वतंत्रतापूर्वक इछित पुरूष का वरण कर सकती थी, वहाँ मध्ययुग में स्त्री पुरूष की तृप्ति एवं भोग की वस्तु बन गयी ।"[2]

नारी जागरण

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय समाज में परिवर्तन अभूतपूर्व मात्रा में होने लगे हैं । नारी की सामाजिक स्थिति में आशातीत परिवर्तन आये हैं । सब कहीं नारी जागृति दिखायी पडती है । आज ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी न मिलेगा जिसका जीवन माता, पत्नी, भगिनी, पुत्री आदि स्त्री के किसी न किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो ।[3] अब तक पुरूष वर्ग द्वारा उपेक्षित नारी, जिसे समाज

---

1. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री पुरूष सम्बध - पृः 28.
2. वही - पृः 47.
3. श्रृंखला की कडियाँ - महादेवी वर्मा - पृः 17.

में उचित स्थान नहीं मिल पाया था जागृति की नई लहर के कारण घर की चहार-दीवारी से बाहर निकल आयी और शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर प्रगति पथ पर अग्रसर हुई । अब वह पुरुष के आश्रय में तथा उनकी दया पर पलनेवाली, इशारे पर नाचनेवाली स्पन्दनहीन कठपुतली मात्र नहीं रह गयी, बल्कि उसने समाज में पुरुष से बराबर ही अपना स्थान बनाया ।[1]

राजनैतिक क्षेत्र में मतदान की प्राप्ति ने स्त्री को अधिक स्वत्व संपन्न बनाया । अतः इस क्षेत्र में नारी का नया रूप प्रकट होने लगा । परिवार की अर्थिक स्थिति को संभालने केलिए वह पुरुष के साथ काम करने लगी । इस साहस ने उसे अपने पैरों पर खडे होने केलिए बल प्रदान किया । अब वह पुरुष की अर्धांगिनी नहीं संगिनी बन गयी है । लेकिन समाज को नारी का यह नव्य रूप अच्छा नहीं लगा । पुरुष भी नारी के इस नये रूप से असन्तुष्ट है । फलस्वरूप नारी को विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पडा । कटु अनुभवों ने उसमें चिडचिडापन, खीझ और झुंझलाहट उत्पन्न की । अतः स्त्री पुरुष सम्बधों में मनमुटाव उत्पन्न होने लगा ।

स्वतंत्र्योत्तर भारतीय जीवन में इतना परिवर्तन आ गया है कि नाते-रिश्ते महत्वहीन साबित होने लगे । नगर जीवन की यांत्रिकता के फलस्वरूप स्त्री पुरुष सम्बधों में अतृप्ति, कलह, असन्तोष प्रकट होने लगे । पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के कारण जीवन आडम्बर युक्त हो गया । बाह्य परिस्थिति व्यक्ति की स्वछन्द मनोवृत्ति में बाधक हो गयी । अतः वह अपने को नितांत अकेला व असहाय अनुभव करने लगा । उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति ने समस्त नैतिक मूल्यों को पूर्ण रूप से ध्वस्त कर दिया । स्त्री और पुरुष के सम्बधों में पवित्रता की जो पुरानी भावना थी, वह ध्वस्त हो गयी है । नारी का रूप वासना के फीते के सामने छोटा पड गया है । उसके अंग प्रत्यंग पर वासना के नीले निशान हैं । भ्रूण हत्या, "एबार्शन"

---

1. साठोत्तरी हिन्दी नाटक प्रेम और यौन दृष्टि - काली किंकर द्वारा लिखित लेख - पृः 86.

और भोग की दीवारों से स्त्री सिर पटकने लगी है ।[1] फलस्वरूप वह नवीन मानसिक रोग और तनाव की शिकार हो गयी है ।

परिवर्तित परिवेश में भौतिकता के प्रभाव से धार्मिक एवं नैतिक आस्थाएं विलुप्त होने लगीं । स्त्री-पुरुष सम्बध सेवस पर अवलंबित हो गया । मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है, वैवाहिक और यौन सम्बधों में हमने पुरानी लोक छोडी है, पढे लिखे लोगों की कतार लंबी हुई है । पत्नी नौकरी करने के कारण परिवार का भरण-पोषण कर रही है । महानगरीय परिवेश में आकर नर-नारी स्वच्छंद यौनाचार में लिप्त हुए और यह सब आधुनिक परिवेश की देन है ।[2]

नारी जीवन की ये सारी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से आधुनिक साहित्य में प्रतिफलित हुई हैं । कविता, कहानी उपन्यास आदि सभी साहित्यिक विधाओं में इन परिर्वनों के चिह्न लक्षित होते हैं किन्तु प्रत्यक्ष जीवन-व्यापारों से अधिक सम्बद्ध होने के कारण नाटक में ही इसका प्रतिफलन सर्वधिक हुआ है । 1950 और उसके बाद प्रणीत प्रायः सभी नाटक उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं । कलाकारों की सख्या कम नहीं है । हम इस अध्याय में प्रतिनिधि स्वरूप नाटककारों की प्रमुख रचनाओं का विश्लेषण करेंगे ।

मोहन राकेश के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बध

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों में मोहन राकेश एक सशक्त हस्ताक्षर हैं । उन्होंने स्त्री-पुरुष सम्बधों को नये दृष्टिकोण से चित्रित करने का प्रयास किया है । "उन्होंने अपने नाटकों से हिन्दी में एक नया दर्शक वर्ग तैयार किया और जयशंकर प्रसाद के बाद पहली बार हिन्दी रंगमंच की सार्थकता का

---

1. कहानीकार मोहन राकेश - डॉ. सुषमा अग्रवाल - पृः 3.
2. मोहन राकेश के नाटक - डॉ. द्विजराम यादव - पृः 184.

एहसास कराया"।[1] "ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये उनके नाटक "आषाढ का एक दिन" और "लहरों के राजहंस" में आधुनिक भावबोध की गहरी दृष्टि मिलती है । डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं - "लहरों के राजहंस तथा "आषाढ का एक दिन" मोहन राकेश के नाटक हैं जिनमें आधुनिक शिल्प, नये मूल्य और अभिनव परिवेश को महत्ता दी गयी है । ये नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की नवीनतम प्रगति की ओर संकेत करते हैं ।"[2] इनमें राकेश ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अवश्य दी है लेकिन उसमें आज के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टिकोण का पुट देते हुए नाटकों को समकालीन अर्थवत्ता से भी जोडा है ।[3] इसकेलिए उसने प्रसिद्ध कवि कालिदास और भोली-भाली ग्रामीण कन्या मल्लिका के चरित्र को अपनाया है ।

"आषाढ का एक दिन" अब तक रचित नाटकों से एकदम भिन्न है । इसका कालिदास आधुनिक दुर्बल मानव का प्रतिनिधि है जो परिस्थितियों से घिरा हुआ अनचाहा जीवन जीने केलिए बाध्य है ।[4] नाटककार लिखते है - "कालिदास मेरेलिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने केलिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है ।"[5]

इस नाटक का सब से प्रमुख पात्र मल्लिका है । वह भावना में विचरण करनेवाली है । कालिदास की प्रमिका है । वह अपनी माता अम्बिका से कहती है - "मैं ने भावना में भावना का वरण किया है । मेरेलिए वह सम्बध और सम्बधों से बडा है । मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है ।"[6]

---

1. डॉ. सुरेष अवस्थी - धर्मयुग 17 दिसम्बर 1972 - पृ: 23.
2. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सन्दर्भ - पृ: 224.
3. आधुनिकता और मोहन नाकेश - डॉ. ऊर्मिला मिश्र - पृ: 111.
4. प्रसादोत्तर कालीन नाटक - भूपेन्द्र कलसी - पृ: 250.
5. लहरों के राजहंस - भूमिका - पृ: 8.
6. आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ: 13.

प्रेम की विडम्बना

राजकवि का सम्मान प्राप्त कालिदास मल्लिका और वहाँ की पर्वतभूमि छोडकर उज्जयिनी जाना नहीं चाहता है । लेकिन मल्लिका कालिदास को उज्जयिनी जाने की प्रेरणा देती है । वह कहती है - "यहाँ ग्राम-प्रान्तर में रहकर तुम्हारी प्रतिभा को विकसित होने का अवसर कहाँ मिलेगा' यहाँ लोग तुम्हें समझ नहीं पाते जानती हूँ कि कोई भी रेखा तुम्हें घेर लें, तो तुम घिर जाओगे । मैं तुम्हें घेरना नहीं चाहती । इसीलिए कहती हूँ, जाओ ।"[1] यहाँ मल्लिका के चरित्र में भारतीय नारी का वह रूप दर्शनीय है जो कष्ट सहकर पति की शुभ कामना करती है । आगे कालिदास उज्जयिनी में महान कवि के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रियंगुमंजरी से विवाह कर लेता है । मल्लिका का जीवन एकदम सूना हो जाता है । जब कालिदास मल्लिका से मिले बिना गाँव से होकर काश्मीर चला जाता है तब उसकी माँ जो बेटी की चिन्ता में रोगी हो गयी है, कटूक्तियाँ कहती है । लेकिन मल्लिका तब भी कालिदास का पक्ष लेती है । "मल्लिका कालिदास के भौतिक व्यक्तित्व की अपेक्षा उसके अन्तर व्यक्तित्व से प्रभावित थी, जिसमें सृजनशीलता का महान तत्व समाविष्ट था ।"[2]

मल्लिका अपनी विपन्नावस्था में भी धन इकट्ठा करके कालिदास की रचनाएँ खरीदकर पढती है । इतना ही नहीं अपने हाथ से पन्ने सीकर उनपर अपने आँसुओं से उसने एक अलिखित महाकाव्य की रचना की । लेकिन समय ने उसे वारांगना बनने केलिए विवश किया । विलोम से सम्बध स्थापित करके वह एक नया व्यक्तित्व अर्जित करती है । अब विलोम मल्लिका के घर में आयाचित अतिथि नहीं ।

---

1. आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ: 48.
2. मोहन राकेश व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ. घनानन्द् एम. शर्मा "जदली" - पृ: 85.

मल्लिका का जीवन परिस्थितियों के प्रभाव से, यथार्थ से टकराकर अब पूरे तौर पर टूट चुका है । अब भी कालिदास के प्रति वह सद्भावना रखती है । कालिदास नवीन परिस्थितियों में सभी सुख सुविधाओं में रहने पर भी मन से विचलित है । मल्लिका की चिन्ता ने उसको भाव-विभोर कर दिया है । अन्त में वह मल्लिका से कहता है - "लोग सोचते हैं मैं ने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है । परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं ने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा । जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था । "कुमार-सम्भव" की पृष्ठ-भूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो "रघुवंश" में अज का विलाप मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति हुई है और ।"[1]

अन्त में दोनों एक दूसरे के निकट आये प्रतीत होते हैं । लेकिन मल्लिका के वर्तमान से समझौता करना कालिदास केलिए असंभव है । वह सदा केलिए मल्लिका के जीवन से अलग हो जाता है । अब शेष रह गयी मल्लिका, जीवन की सारी व्यथाओं को समेटे, वर्तमान की ओर टकटकी दृष्टि लगाए ।

लहरों के राजहंस

"आषाढ का एक दिन" की मल्लिका भारत की समर्पण-प्रवण नारी है तो "लहरों के राजहंस" की सुन्दरी सर्वथा भिन्न प्रकार की है । इसकी सुन्दरी स्वतंत्र्योत्तर भारत की अहंबुद्धिवाली असहिष्णु आधुनिक नारी है ।

"लहरों के राजहंस" मोहन राकेश का दूसरा नाटक है । यह आधुनिक स्त्रीपुरुषों के सम्बधों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है । "इसमें पति पत्नी के रूप में प्रेमी नंद और रूपवती सुन्दरी के पारस्परिक मुग्ध-मधुर आत्मीय सम्बधों का

।. आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ: ।09.

रमणीय प्रस्तुतीकरण हुआ है ।"[1] नाटककार ने इसमें नंद और सुन्दरी के माध्यम से आधुनिकता लाने की कोशिश की है । "आधुनिक जीवन के संवेदन को प्रामाणिक तथा विश्वसनीय बनाने केलिए इस नाटक में अतीत को एक खोल की तरह ओढा गया है । मुख्य वस्तु वह खोल नहीं है वरन् वह अन्तर्द्वन्द्व है जिसे सृजन के सन्दर्भ में नाटककार चित्रित करना चाहता है ।"[2] राकेश ने भी इसकी ओर संकेत किया है - यहाँ नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रयमात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिप्रेक्षित किया जा सकता है । नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में "आषाढ का एक दिन" के अन्तर्गत है ।[3]

इस नाटक की कथावस्तु बहुत संक्षिप्त है । यशोधरा के दीक्षा ग्रहण करने के दिन नंद की पत्नी सुन्दरी बडे उत्साह से कामोत्सव की योजना बनाती है । लेकिन वह कामोत्सव असफल सिद्ध होता है । बुद्ध भिक्षा लेने राजमहल आते हैं । भिक्षा न मिलने के कारण लौट जाते हैं । क्षमा माँगने केलिए नंद बुद्ध के पास जाता है । पर बुद्ध के प्रभाव से केश काटकर बहुत देर रात को घर लौट आता है । वहाँ सुन्दरी की उपेक्षा का उसे सामना करना पडता है । अन्त में नंद घर छोडकर सदाकेलिए चला जाता है ।

नंद और सुन्दरी के माध्यम से नाटककार ने आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बधों पर दृष्टि डाली है । "नंद आधुनिक पुरुष का ही नहीं, किसी भी देशकाल के द्विविधाग्रस्त व्यक्ति का चरित्र है जिसके अन्दर निर्णय और अनिर्णय के द्वन्द्व की स्थिति चलती है ।"[4] सुन्दरी एक अभिजात वर्ग आधुनिका है जो अपने सौन्दर्य, आकर्षण, और प्रणय के बंधन में अपने पति को बाँध रखना चाहती है ।

---

1. लहरों के राजहंस विविध आयाम - जयदेव तनेजा - पृ: 30.
2. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - डॉ. गोविन्द चातक - पृ: 55.
3. लहरों के राजहंस - भूमिका - पृ: 10.
4. आधुनिकता और मोहन राकेश - डॉ. ऊर्मिला मिश्र - पृ: 122.

जिस घर में पति "नाम" का पति है वहाँ पत्नी का शासन चलता है । ठीक वैसे ही यहाँ सुन्दरी नंद की अनुमति लिये बिना कामोत्सव का आयोजन करती है । वह भी उसी दिन , जिस दिन देवी यशोधरा दीक्षा ग्रहण करती है । आधुनिक स्त्रियों में अहम् का जो भाव है, वही सुन्दरी में निहित है । नाटक में नंद लौकिकता और अलौकिकता के बीच से गुज़रता हुआ सही निर्णय न कर पाने वाला व्यक्ति है । उसके मन में बुद्ध के प्रति विशेष अनुराग है । लेकिन सुन्दरी के सामने पहुँचते ही उसका यह भाव नष्ट हो जाता है । वह कहता है - "कुछ है जो चेतना पर कुण्डली मारे बैठा रहता है और मुझे अपने से मुक्त नहीं होने देता । मैं उस से मुक्त होना चाहता हैं ।"[1]

लौकिकता की ओर बढते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश में जीनेवाले पुरुष की स्थिति नंद से भिन्न नहीं । नंद कभी कभी आध्यात्मिकता की ओर जाना चाहता है लेकिन भौतिकता का आकर्षण रुकावट पैदा करता है । उसकी पत्नी स्वतंत्रताजन्य वातावरण में पलनेवाली नारी का प्रतिनिधित्व करती है । "उसे अपनी शक्ति का अहसास है ।"[2]

आधुनिक पारिवारिक जीवन संघर्षों से भरा हुआ है । पति-पत्नी के संघर्ष भरे जीवन में पति की स्थिति को राकेश नंद के इन शब्दों में व्यक्त करते हैं - "मैं चौराहे पर खडा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती है और अपने को ढकने केलिए उसके पास कोई आवरण नहीं है । जिस किसी दिशा की ओर पैर बढाता है, लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमग रही है, और मैं पीछे हट जाता हूँ ।"[3]

---

1. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश - पृ: 86.
2. मोहन राकेश के नाटक - सम्पादक सुन्दरलाल कथूरिया - पृ: 157.
3. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश - पृ: 127.

सुन्दरी ऐतिहासिकता का आवरण ओढने पर भी पूर्ण रूप से अत्याधुनिका है जो भिन्न भिन्न शराबों के सम्मिश्रण का पर्याप्त ज्ञान रखती है । नाटक के आरंभ में सुन्दरी इसके बारे में अलका से कहती है तू जा पहले शशांक से कह दे । समय बहुत थोडा है । पुराने रस और आसव मिलाकर भी वह कई कई तरह के नये सम्मिश्रण प्रस्तुत कर सकता है ।[1] वह एक बार विक्षुब्ध होकर मदिरा पीती है अन्त में नन्द से क्षमा माँगती भी है ।

दाम्पत्य जीवन का विघटन एवं विसंगति पूरे नाटक में व्याप्त है । इसका मूल कारण सुन्दरी का बर्ताव है - नंद सुन्दरी के दाम्पत्य जीवन के विघटन और उसकी व्यक्तिगत त्रासदी का बहुत बडा उत्तरदायित्व सुन्दरी पर ही है ।[2] सुन्दरी को अपने रूप पर बहुत घमण्ड है, तभी तो वह देवी यशोधरा पर व्यग्य करते हुए कहती है - "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है ।"[3] स्पष्ट है सुन्दरी गौतम बुद्ध को पुरुषार्थ से युक्त व्यक्ति नहीं मानती ।

स्वाधीनोत्तर भारतीय परिवेश में लघु परिवार का प्रचलन सब कहीं हो गया है । घर के संचालन की जिम्मेदारी स्त्री के हाथों में आ गयी । पुरुष जितना भी लिप्त होता है उतना ही दासता को भोगता है और उतना ही तीव्र उसका विकर्षण भी होता है ।[4] नाटक में नंद और सुन्दरी की हालत यही है ।

---

1. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश - पृः 23.
2. लहरों के राजहंस विविध आयाम - जयदेव तनेजा - पृः 45.
3. लहरों के राजहंस - मोहन राकेश - पृः 19.
4. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - गोविन्द चातक - पृः 64.

"लहरों के राजहंस" स्त्री-पुरुष सम्बधों के उलझन को स्पष्ट करता है । जो उलझन से प्रारंभ होता है, उलझन से फैलता है, वह उलझन की तीव्रता में ही समाप्त होता है । नंद और सुन्दरी जीवन की उलझनों को सुलझाने के चक्कर में इस तरह फंस जाते हैं कि वे न चाहते हुए भी भिन्न भिन्न दिशाओं में अग्रसर हो जाते हैं ।

आधे-अधूरे

मोहन राकेश का तीसरा नाटक "आधे-अधूरे" स्त्री पुरुष सम्बधों की विड़म्बना एवं विसंगति का दस्तावेज़ है । इसमें आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की समाजिक, आर्थिक तथा मानसिक स्थितियों का यथार्थ चित्रण है । साथ ही साथ "समकालीन जिन्दगी के तनाओं और सम्बधहीनता बोध में जी रहे अधूरे व्यक्तित्व के संघर्ष की स्थिति का भी चित्रण है ।"[1] यह आज के जीवन के एक गहन अनुभव खंड को व्यक्त करता है । नारी को मुक्ति भावना, विघटनशील जीवनमूल्य, वैवाहिक सम्बधों को विडम्बना पर यह पर्याप्त प्रकाश डालता है ।[2]

स्वातंत्रयोत्तर भारतीय जीवन में इतना परिवर्तन आ गया है कि भाई चारे का सम्बध महत्वहीन साबित होने लगा है । जीवन की व्यस्तता एवं अर्थिक अभाव के कारण व्यक्ति में निराशा उत्पन्न हो गयी - "जीवन से असन्तुष्ट व्यक्ति समकालीन जिन्दगी के तनाव और संघर्ष के बीच परायेपन और अपने इर्द-गिर्द फैले हुए अमानवीयकरण से संत्रस्त होकर अन्दर ही अन्दर टूटकर अपने लोगों के बीच मेहमान या पराया सा महसूस करने लगा है"।[3] उसका जीवन इतना व्यस्त है कि वह बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यों पर ध्यान ही नहीं देता है । इन सब की झाँकी "आधे-अधूरे" में दर्शनीय है ।

---

1. आधुनिकता और मोहन राकेश - डॉ. ऊर्मिला मिश्र - पृ: 134.
2. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - गोविन्द चातक - पृ: 120.
3. आधुनिकता और मोहन राकेश - पृ: 134.

नाटक का नायक महेन्द्रनाथ एक असफल व्यापारी है । अब उसका जीवन निर्वाह पत्नी सावित्री की आमदनी पर निर्भर है । "सावित्री और महेन्द्रनाथ के दाम्पत्य जीवन में पारस्परिक समझौते का अभाव है । अतः वे एक विचित्र तनाव और सम्बध हीनता महसूस करते हैं । जो उनमें आन्तरिक बेचैनी, निराशा, झुंझलाहट, रिक्तता और अपूर्व पीडा को जन्म देती है ।[1] अपने पति को निकट से पहचानने पर सावित्री को उस से वितृषणा होने लगती है । वह महेन्द्र को किसी न किसी का सहारा ढूँढनेवाला एक अधूरा व्यक्ति समझती है । उसके इस अधूरेपन को सावित्री इन शब्दों में व्यक्त करती है - "वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं । इस अधूरेपन को मनुष्य विवाह करके घर बसाके पूरा कर सकता है किन्तु महेन्द्र केलिए जिन्दगी का मतलब रहा है सिर्फ दूसरों की खाली जगह भरने की ही चीज़ है । जो कुछ वे उस से चाहते हैं, उम्मीद करते हैं या जिस तरह वे सोचते हैं, उनकी ज़िन्दगी में उसका इस्तेमाल हो सकता है ।"[2] जीवन में जो कुछ भी हासिल न कर पाने की चिन्ता से पीडित सावित्री अपनी बची ज़िन्दगी एक पूर्ण पुरूष के साथ बिताना चाहती है । उसके जीवन में जुनेजा, शिवजीत, जगमोहन और सिधानिया प्रेमी के रूप में आते हैं । लेकिन अन्त में सावित्री यह महसूस करती है - "सब के सब सब के सब एक से ! बिलकुल एक से हैं आप लोग ! अलग अलग मुखौटे, पर चेहरा सब का एक ही ।"[3]

आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के निठल्ले पति की जो दशा होती है वही है महेन्द्र की भी । स्वयं महेन्द्र अपनी दयनीय स्थिति से परिचित है । वह कहता भी है - "हर वक्त की धुतकार, हर वक्त की कोंच , बस यही कमाई है

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृः 433.
2. आधे - अधूरे - मोहन राकेश - पृः 62.
3. वही - पृः 109 (द्वितीय संस्करण 1971)

यहाँ मेरी इतने सालों की ।"[1] वह इतना अशक्त हो गया है कि मन की बात खुलकर कह भी नहीं सकता । पत्नी के मित्रों का किसी न किसी बहाने घर पर आना वह पसंद नहीं करता । विरोध प्रकट करना चाहकर भी प्रकट नहीं कर सकता । पत्नी और बच्चे उस से अलग होते जा रहे हैं । महेंद्र स्वयं जानता है -

वे सब तो एक रबड स्टैम्प के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे । सिर्फ जरूरत पडने पर स्टैम्प का ठप्पा लगाकर ।"[2] उसका सोचना सही है । वह सावित्री के पुरुष मित्रों को जानता है । अपने कुचले आत्मसम्मान को बचाने की खातिर वह अक्सर "शुक्रशनीचर" घर छोडकर चला जाता है, लेकिन कुछ घंटों के बाद वापस लौट आता है - थका हारा, पराजित क्योंकि यही उसकी नियति है ।

स्त्री-पुरुष सम्बधों की विडम्बना की प्रतिक्रिया गंभीर होती है । "वैवाहिक जीवन की पवित्रता में अनास्था के कारण पति पत्नी में दिन रात की उलझन, परिवार में पुरानी और नयी पीढी के बीच विचारों की टकराहट, निरंतर बढती जाती है ।"[3] महेन्द्र और सावित्री के परिवार का हर एक पात्र एक दूसरे से कटा हुआ है । एक के मन में दूसरे के प्रति लगाव नहीं है । सभी मनमाने रास्ते से बढते हैं । बडी लडकी बिन्नी माँ के प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है । लडका अशोक पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की रंगीन तस्वीरें काटता हुआ समय बिताता है । बिन्नी और अशोक भविष्य के महेन्द्र और सावित्री ही होंगे । किन्नी भविष्य में अपनी माँ से कम सबित नहीं होंगी क्यों कि वह अल्पायु में ही यौन बात्तों में रस लेती है ।

---

1. आधे-अधूरे - मोहन राकेश - पृ: 43.
2. वही - पृ: 44.
3. आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव - दशरथ ओझा - पृ: 156.

सब कुछ एक साथ हासिल करने की सावित्री की लालसा उसके जीवन को बेचैन बना देती है । इसके सम्बध में जुनेजा ने संकेत दिया है - तुम्हारे जीने का मतलब रहा है - "कितना कुछ एक साथ होकर कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढकर जीना । वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह नहीं मिल पाता, इसीलिए जिस किसी के साथ भी ज़िन्दगी शुरु करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी बेचैन बनी रहती ।"[1] अन्ततः सावित्री की दृष्टि महेन्द्र पर टिक जाती है - "जिन्दगी में और कुछ हासिल न हो, तो कम से कम यह नामुराद मोहरा हाथ में बना ही रहे ।"[2]

नाटककार ने सभी पात्रों को एक ही साँचे में ढाल दिया है । सभी सेक्स से पीडित या कुण्ठित हैं जिस से पात्रों में असन्तोष और झझलाहटें मुखरित होती है । नाटक स्त्री-पुरुष सम्बधों के असामंजस्य के प्रश्न को उभारता है । महेन्द्र और सावित्री जहाज़ के उस पक्षी के समान हैं जो उडकर चले जाने की इच्छा रखते हुए भी कहीं जा नहीं पाते । इस से व्यक्त है कि अन्ततः व्यक्ति को अपने घर में ही शरण मिल सकती है ।

राकेश के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बधों की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति का प्रयास है । नारी पुरुष का सम्बध परक संघर्ष सनातन है । इस संघर्ष की चरमपरिणति की खोज ही उनके नाटकों का मूल उद्देश्य है । उनके नाटकों में नायक लौटने केलिए अभिशप्त हैं । चाहे वह आषाढ के एक दिन का कालिदास हो, या "लहरों के राजहंस" का नायक नंद हो या आधे-अधूरे का महेन्द्र, सभी घर से बाहर जाकर पुनः घर की तलाश में घर आकर मेहमान की तरह परायापन का अनुभव करते हैं ।

---

1. आधे-अधूरे - मोहन राकेश - पृः 106.
2. वही - पृः 110.

लक्ष्मीनारायण "लाल" के नाटकों में स्त्री पुरूष सम्बध

डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल पाचासोत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य के एक सशक्त रंगकर्मी हैं । उनके नाटकों में स्त्री-पुरूष सम्बधों को नये सिरे से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इस दृष्टि से उनके नाटकों में प्रमुख हैं - "रात रानी", "दर्पण", "कर्फ्यू", "मादा काक्टस" और "सूर्यमुख" ।

रात-रानी §1962§

यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है । इसकी कथा आज के मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध है । "इसमें नाटककार ने पति-पत्नी के संघर्ष और द्वन्द्व के माध्यम से आज के जीवन में क्रमशः बढती भौतिकवादी विचारधारा तथा आदर्शवादी विचारधारा के बीच उभरते संघर्ष, को अधोरेखित करने का प्रयास किया है । साथ ही साथ पूँजीपति - मज़दूर संघर्ष, दहेजप्रथा जन्य पुरूष की संकुचित वृत्ति एवं अबाध अधिकार भावना, घुटन से भरा दाम्पत्य जीवन आदि समकालीन समस्याओं को भी स्पष्ट किया है ।"[1] आज के भौतिकतावादी युग में "जीवन की हार्दिकता, मानवता और व्यापक जीवनादर्शों की क्या भूमिका है, नाटक इसी प्रश्न को लेकर आगे बढता है ।[2]

---

1. आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक - डॉ॰ माधव सोनटक्के - पृ: 58.
2. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच - डॉ॰ दयाशंकर शुक्ल - पृ: 69.

कथानक का केन्द्र जयदेव और उसकी पत्नी कुन्तल हैं । प्रेस का मालिक जयदेव दूरे तौर पर अर्थापेक्षी है । वह प्रेस के मज़दूरों को ठीक तरह से वेतन न देकर सुखमय जीवन बिताना चाहता है । लेकिन उसकी पत्नी कुन्तल मज़दूरों से सहानुभूति रखती है । उनकी अर्थिक सहायता भी करती है । नाटक में जयदेव का अर्थवादी दृष्टिकोण उसके पतन का कारण बनता है ।

"रात-रानी" स्त्री-पुरुष सम्बधों के तनाव का चित्र प्रस्तुत करता है । जयदेव अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को भी अपनी बाहों में भर लेना चाहता है । कुन्तल भारतीय आदर्श नारी का प्रतिनिधित्व करती है । नारी की दयनीय दशा को व्यक्त करती हुई वह कहती है - "निरंजन बाबू, स्त्री की सब से बडी करूणा यह है कि वह रूपये में पाँच आने भी अपने को प्रकट नहीं कर पाती - जब कि आनंद है अपने पूर्ण प्रकाश में । इसीलिए स्त्री पुरुष की अपेक्षा दीन है ।"[1] स्त्री की इस कमज़ोरी का फायदा उठाने में तत्पर हैं ।

नाटक में जयदेव ऐसे पति का प्रतिनिधित्व करता है जो अर्थवादी है । वह अपनी पत्नी कुन्तल को नौकरी करने को बाध्य कर देता है । वह कहता है - "समय के साथ सब का अर्थ बदलता चलता है । इसी का नाम प्रोग्रस है । आज स्त्री को पत्नी और लक्ष्मी दोनों एक साथ होना है ।"[2] निश्चय ही ऐसे पति से घृणा उत्पन्न होना सहज एवं स्वाभाविक है । लेकिन कुन्तल जयदेव के शुष्क और मुर्झाये जीवन में रात-रानी की भाँति महकती है । लेकिन उसके जीवन मूल्य और धराणाएं जयदेव से मेल नहीं खातीं । इसी कारण उसमें अन्त तक द्वन्द्व बना रहता है - "एक बडा सा सुनसान महल जिसमें सुनहले कागज़ के फटे हुए पन्ने

---

1. रात-रानी - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ: 79.
2. वही - पृ: 26.

तेज़ हवा में चारों ओर उड रहे हैं । मैं उन उडते हुए फटे पन्नों का पीछा करती हुई सारे कमरे में दौड रही हूँ पर मेरे हाथ कुछ नहीं आता ।"[1] मन का संघर्ष दूर करने केलिए वह प्रकृति की ओर मुड जाती है । प्रकृति ने उसे विश्वभाव की ओर प्रेरित किया । प्रकृति का यह भाव आज के यांत्रिक जीवन में क्यों नहीं उभर आता यही उसकी वेदना है । वह सोचती है - "ब्रइडल क्रीपर पूरे वर्ष भर में केवल पन्द्रह दिनों तक फूलती है, शेष वर्ष भर वह उसकी तैयारी करती है । मैं सोचती हूँ, मनुष्य जो इतना कार्यव्यस्त रहता है, सदा इतनी तैयारी में रहता है, ब्रइडल क्रीपर की तरह वह कब फूलता और सुगन्ध बिखेरता है और कब वह खंजन की तरह गाता है ।"[2]

नाटककार रात-रानी के माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहता है - "जैसे रात-रानी का फूल सारे वातावरण को सुगन्ध से परिपूर्ण कर देता है, उसी प्रकार कुन्तल जैसी सद्गुणों से युक्त आदर्श भारतीय नारी अपने पति के घर को ही नहीं, सम्पूर्ण समाज को सुवासित एवं माधुर्यपूर्ण कर देती है ।"[3] लेकिन पुरुष कुन्तल जैसी नारी का समादर करना नहीं जानता । फलस्वरूप पारिवारिक शांति नष्ट हो जाती है ।

करफ्यू (1972)

आज पति-पत्नी अपने पारिवारिक संबंध और सामाजिक हैसियत को बनाये रखने केलिए एक प्रकार का यांत्रिक जीवन बिता रहे हैं । कृत्रिमता के कारण वे वर्षों से एक साथ रहने पर भी एक दूसरे केलिए अजनबी ही बने रहते हैं ।

---

1. रात-रानी - डॉ. लाल - पृ: 117-118.
2. वही - पृ: 110.
3. हिन्दी के प्रतीक नाटक - डॉ. रमेश गौतम - पृ: 278.

उनकी हर प्रवृत्ति में पाबन्दी पायी जाती है । उनका जीवन वर्जनाओं की परिधि में सीमित हो जाता है । "इसमें कोई न कोई परिवर्तन आवश्यक है । कैसा परिवर्तन आवश्यक है और वह कैसे किया जा सकता है इसकी खोज इस नाटक में है ।[1] नाटक की भूमिका में डॉ. लाल ने इसकी ओर संकेत दिया है - "आज के जीवन में जिस बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत है, मैं ने यह इशारा इसी रचनाभूमि से करने की कोशिश की है । इस परिवर्तन की शुरूआत तब होती है जब व्यक्ति अपने पर लगे हुए करफ्यू को तोडकर अपने को एक नये रूप में तलाशने का प्रयत्न करता है ।"[2]

डॉ. लाल ने इस नाटक के माध्यम से स्त्री-पुरुष सम्बध के एक नए आयाम का पर्दाफाश किया है । भूमिका में उन्होंने लिखा है - "पति-पत्नी, चाहे वे प्रेमविवाह के फलस्वरूप मिले हो, चाहे परंपरागत विवाह से, एक दूसरे को थोडा सा जानकर उसी के भीतर बल्कि उसी थोडी सी पहचान का करफ्यू लगाकर जी रहा है ।"[3] इसमें बाहर के "करफ्यू" के जरिए स्वच्छन्द प्राकृतिक आचरण पर विशेषतः पति-पत्नी के अतिरिक्त पर पुरुष और स्त्री के साथ उन्मुक्त यौन सम्बध पर समाज द्वारा डाली गयी अर्गला और अवरोध को ही संकेतित किया गया है ।[4]

"करफ्यू" की रात मिल मालिक गौतम की पत्नी कविता कलाकार संजय के घर और संजय की पत्नी मनीषा गौतम के घर पहँच जाती हैं । कविता विवाह पूर्व किसी युवक से प्रेम करती थी । लेकिन वर्जनाओं के कारण प्रेम में असफल हो गयी । सुखमय जीवन की महत्वाकांक्षा के कारण वह गौतम की पत्नी बन जाती है और एक कृत्रिम सीमित दाम्पत्य जीवन बिताने लगती है । लेकिन करफ्यू की रात जब वह संजय के घर में आश्रय लेती है तब उसके मन में पूर्व प्रेमी के प्रति प्यार

---

1. आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक - डॉ. माधव सोनटक्के - पृः 67.
2. करफ्यू - डॉ. लाल - पृः 12.
3. वही - पृः 9.
4. साठोत्तर हिन्दी नाटक - सम्पः विजयकान्त दुबे - पृः 108.

उमड आता है और सारी वर्जनाओं को त्याग कर संजय की बाहों में अपने को समर्पित कर तन की भूख मिटाती है । वह कृत्रिमता के बिना संजय से कहती है - मैं आप को एक पुरुष समझती हूँ ! "हाँ एक पुरुष । उसके सब अर्थों में पुरुष जिसके बिना स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं, पुरुष जिसकी चाह हर स्त्री अपनी आत्मा में पालती है, पुरुष जिसकी गोद ही स्त्री की मुक्ति है ।"[1] कविता का यह समर्पण अपने पर लगाये करफ्यू के प्रति "रायट" है । इसके बाद कविता एक नया जीवन शुरु करती है । इस प्रकार की स्थिति गौतम की भी होती है । वह मनीषा के संपर्क में उसी रात ऐसी मानसिकता प्राप्त करता है - "जो सहज है मानवोचित है, उस पर इतनी पाबन्दी क्यों? इतना डर क्यों? जो अपने भीतर का करफ्यू नहीं तोडते, वही बाहर करफ्यू लगाते हैं और उसे तोडने केलिए अपराध करते हैं ।"[2] व्यक्तित्व की पहचान ने उनमें पारस्परिक और आत्मीय सम्बध स्थापित कर दिया । उस दिन को वे विवाह की पहली वर्षागांठ के रूप में मनाते हैं । संजय और मनीषा को भी उसमें निमंत्रण देते हैं ।

यह स्थिति स्त्री-पुरुष सम्बधों की एक नयी दिशा की ओर संकेत करती है । लेकिन संपूर्ण नाटक का नाट्य व्यापार देख कर कभी कभी यह विचार उत्पन्न होता है कि वास्तविक जीवन में ऐसा होना संभव नहीं । स्पष्टत: यह नाटक व्यक्ति की उन्मुक्त भोगवादी वांछा की प्रस्तावना है । इसके चारों पात्र इस उद्देश्य को सिद्ध करते हैं ।

---

1. करफ्यू - डॉ. लाल - पृ: 98.
2. वही - पृ: 118.

सूर्यमुख §1968§

साठोत्तर नाटकों में चित्रित स्त्री-पुरुष सम्बधों में अनैतिक और अधार्मिक प्रवृत्तियों का भी प्रतिपादन मिलता है । सम्भवतः अगम्यगमन उतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य वंश । पुराने ग्रीस में ईडिपस की जो कथा प्रचलित थी, उदाहरण मानी जा सकती है । डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल की रचना "सूर्यमुख" इस दिशा में उल्लेखनीय है ।

डॉ. लाल आधुनिकता की अभिव्यक्ति केलिए मिथक को अधिक सार्थक मानते हैं । "सूर्यमुख" मिथक पर आधारित है । इसकी कथा महाभारत के अन्तिम चरण से सम्बधित है । इसमें कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और उनकी अंतिम रानी वेणुरति के अनैतिक सम्बधों का प्रतिपादन है । यह नाटक महाभारतकालीन पात्रों एवं प्रसंगों के माध्यम से आधुनिक युग बोध को प्रस्तुत करता है । नाटककार ने "इसमें प्राचीन पात्रों के ज़रिए आज के व्यक्ति की मनोग्रंथियों, कुण्ठाओं तथा दुर्बलताओं को पकडने की कोशि की हैं ।"[1]

"सूर्यमुख" में डॉ. लाल ने प्रद्युम्न और वेनुरति के विपरीत प्रेम-सम्बधों को धर्मसम्मत सिद्ध करने की कोशिश की है । इसकेलिए उन्होंने नाटक के पात्र दुर्गपाल से उनके प्रेम की प्रशंसा कराई है । दुर्गापाल साम्ब से कहता है - नहीं, कृषण अब अतीत हैं । वर्तमान अब तुम हो और वह प्रद्युम्न भविषय है । वह नया है । सूर्यमुख है वह उसने इस अन्धकार में प्रेम का एक मनवन्तर प्रारंभ किया है ।"[2] नाटककार ने सामाजिक मर्यादा की तुलना में मानवीय अनुभूतियों एवं भावनाओं को ही सर्वोपरी माना है और उसे मान्यता प्रदान की है ।

---

1. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - डॉ. रमेश गौतम - पृः 101.
2. सूर्यमुख - डॉ. लाल - पृः 13.

रिश्ते में प्रद्युम्न और वेणुरति माँ-पुत्र हैं । लेकिन सौन्दर्याकर्षण पर मुग्ध प्रद्युम्न वेणुरति को केवल एक स्त्री के रूप में प्रेम करता है । वेणुरति प्रद्युम्न को केवल एक पुरुष के रूप में स्वीकार करती है । प्रद्युम्न का प्रेम इतना दृढ है कि वह एक क्षण भी वेणुरति से अलग नहीं रह सकता । वेणुरति की खोज में भटकते पद्युम्न की पुकार इसकी साक्षी है - "वेणु ! कहाँ हो तुम ? उत्तर दो, मैं तुम्हारे रंगमहल में आना चाहता हूँ । कहाँ है वह मर्मद्वार ? बोलो - नहीं तो मैं बंद द्वार पर सारी रात अपना माथा टिकाये रह जाऊँगा ... वेणु वेणु !"[1] वेणुरति के मन में भी प्रद्युम्न के प्रति ऐसा विचार है । उसके प्रेम में अलौकिक सम्बध ज़रा भी नहीं । उसमें लौकिकता की झाँकी अवश्य है । प्रद्युम्न के बारे में वह दुर्गापाल से कहती है - "प्रद्युम्न मेरेलिए एक अनिवार्य मनुषय था, केवल मनुषय, जैसे मैं उसकेलिए केवल एक स्त्री थी ।"[2] नाटक के अन्त में प्रद्युम्न के प्रेम केलिए वेणुरति का आत्मोत्सर्ग उसके प्रेम की एकनिष्ठा को सिद्ध करता है । वह कहती है - "अन्तःपुर में उस पहले दिन जब तुम्हें देखा था, तुम्हें समर्पित हो गयी थी, यद्यपि मैं लज्जित थी । जिस दिन मैं तुम्हारे अंक में सोयी थी, उस दिन यद्यपि मैं घृणा से भरी थी फिर भी मैं ने तुम्हें प्यार किया था । उस दिन भी मैं लज्जित थी यद्यपि तुम्हें अंक में कस लिया था पर आज लज्जित नहीं हूँ , मैं तुम्हें प्यार करती हूँ ।"[3] प्रेम की यही अनन्यता उसे प्रद्युम्न से जोडती है । "उसका प्रेम सामाजिक दृष्टि से अवैध होने पर भी मन के धरातल पर एक स्वाभाविक प्रक्रिया है ।"[4]

---

1. सूर्यमुख - डॉ. लाल - पृः 51.
2. वही - पृः 68.
3. वही - पृः 118.
4. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच - डॉ. दयाशंकर शुक्ल - पृः 89.

वेणुरति प्रद्युम्न की प्रेरणा है । जहाँ प्रद्युम्न ने पलायन और अकर्मण्यता की बात सोची है, वेणुरति उसे कर्मपथ की ओर प्रेरित करती है - "तोड डालो उस मुखौटे को ताकि मैं तुम्हारा वह सूर्यमुख देख सकूँ मेरे सूर्य को इस मुखौटे के बाहर आना ही होगा । सारी द्वारिका हमारे विरुद्ध षडयंत्र कर ही है । उठो उन्हें चुनौती दो ताकि हमारे अस्तित्व को अर्थ मिल सके ।"[1]

वेणुरति और प्रद्युम्न के इस प्रेम सम्बध के बारे में द्वारिकावासियों में मतभेद है । उनके प्रेम का समर्थन करते हुए दुर्गपाल रुक्मिनी से कहता है - "पिछले कितने वर्षों से मृत्यू और हत्या के अतिरिक्त इस नगर में किसी ने प्रेम भी किया है' हत्यारा वही है, जिसने अपने प्रेम बोध की हत्या की हो !"[2] लेकिन व्यासपुत्र उनके प्रेम को अनैतिक मानता है । उसका विचार यह है कि उनके अनैतिक प्रेम के कारण ही समुद्र द्वारिका को डुबो रहा है । वह पद्युम्न से कहता भी है - "मेरे विश्वास तुम हो ! बिखरती हुयी द्वरिका को केवल तुम्हीं बचा सकते हो, इसी लिए तुम्हें वेणुरति को त्यागना होगा ।"[3] लेकिन प्रद्युम्न की दृष्टि अलग है । नाटक के अन्त में वह कहता है - "यह कमलनाल, जिसमें मैं उगा था ! मैं तुम्हें कवच की तरह अपने अंक में बाँध व्योति पहाड पर चढूँगा, और इसके रजत शिखर पर वह घोंसला बनाऊँगा जहाँ तेरे गर्भ से असत्य शिशु जन्म लेने की प्रतीक्षा में है ।"[4]

अलोचकों ने सूचित किया है कि वेणुरति-प्रद्युम्न का यह प्रेमसम्बध अप्रामाणिक है । "सूर्यमुख" में प्रद्युम्न के साथ जो वेणुरति का नाम जोडा गया है, उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता । वह कृष्ण की पत्नी थी और इस सम्बध से प्रद्युम्न की माता-स्वरूप थी ऐसा भी कहीं उल्लेख नहीं ।"[5] जो भी हो आधुनिक हिन्दी नाटक में इस प्रवृत्ति का कोई प्रसार नहीं हुआ ।

---

1. सूर्यमुख - डॉ. लाल - पृः 24.
2. वही - पृः 68.
3. वही - पृः 18.
4. वही - पृः 120.
5. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच - डॉ. दयाशंकर शुक्ल - पृः 87.

मादा कैक्टस - (1975)

"मादा कैक्टस" डॉ. लाल का एक सशक्त प्रतीक नाटक है । इसमें नाटककार ने कलाकार के वायवीय प्रेम को सामान्य स्नेहसम्बधों से पृथक करते हुए उसके अपने अहं एवं कला के प्रति प्रतिबद्धता की मूल संवेदना को मादा कैक्टस के प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है ।"[1]

"मादा कैक्टस" में स्त्री पुरुष सम्बधों के द्वन्द्व को उभारा गया है । चित्रकार अरविंद इस नाटक का प्रमुख पात्र है । उसका यह विश्वास है कि जैसे मादा कैक्टस के संपर्क में आने से नर कैक्टस सूख जाता है और रसविहीन हो जाता है, उसी प्रकार किसी स्त्री के निकट संपर्क में आकर कलाकार की कला निष्प्राण हो जाती है । उसके मन में यह गलत धारणा है कि एक कलाकार विवाह के बंधन में बंधकर कला साधना नहीं कर सकता । इस से प्रेरित होकर उसने अपनी पतिव्रता पत्नी सुजाता का परित्याग कर दिया । प्रेमी बनना कला के विकास केलिए प्रेरणा है यह जानकर उसने चित्रकला में निषणात आनंदा को अपनी प्रेमिका बनाया है । आनंदा के पिता अरविंद और आनंदा को विवाहित देखना चाहते हैं । लेकिन अरविंद उसकेलिए तैयार नहीं है ।

अरविंद के चरित्र के द्वारा नाटककार ने स्त्री-पुरुष सम्बधों पर एक नयी दृष्टि डाली है । आधुनिक पुरुष विवाह की जिम्मेदारी से दूर रहकर विवाहित व्यक्ति के समान मज़ा उठाना चाहते हैं । अरविंद के शब्दों को रहते हुए दद्दाजी ने कहा है - "वह कहता है, विवाह एक पुरानी प्रथा थी, सरासर ढकोसला । हम और आनंदा, इस से ऊपर उठकर रहेंगे, पर रेंगे सदा एक संग ।"[2]

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मी राय - पृ: 443.
2. मादा कैक्टस - डॉ. लाल - पृ:65.

अरविंद ऐसे कलाकार का प्रतिनिधि है जो अपने को मृदुल विकारों का व्यक्ति समझता है । लेकिन उसका आचरण उसके सिद्धान्तों के खिलाफ है । सुजाता के प्रति उसका व्यवहार उदाहरण है । इसी के कारण उसको बहुत अधिक यातानाएँ सहनी पडीं । वह पतिव्रता होने पर भी परित्यक्ता है । प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर ही वह उपन्यासकार एवं कवि दिवाकरजी से विवाह कर लेती है । वह अरविंद को यह दिखा देना चाहती है कि विवाह कलाकार केलिए बाधा नहीं है । उसमें कलात्मक शक्ति भी वर्तमान है । अरविंद की कला पर एक विस्तृत लेख लिखकर वह यह योग्यता प्रकट करती है । आधुनिका बनकर जब वह अरविंद के सामने पहुँचती है तब उसने उसकी प्रशंसा की है । यहाँ अरविंद का ढोंगी रूप दर्शनीय है । सुजाता अरविंद के प्रति अपनी चुनौती इन शब्दों में प्रकट करती है - जी वही {हंसी रोककर} मैं कभी भी विवाह पर राजी न होती, पर मुझे चुँकि परीक्षा देनी थी अपने विवाह की !"[1] सुजाता का यह कथन अरंविंद केलिए एक शोक ट्रीटमेंन्ट है ।

प्रस्तुत नाटक के ज़रिए नाटककार यह साबित करना चाहता है कि स्नेह, ममता और दया के साथ जीना ही सब से बडी कला है । अरविंद से दद्दाजी ने कहा भी है - "जिन्दगी से बडी और कोई कला नहीं है । स्नेह में जीना, दया और ममता में जीना, दूसरों को अपने संग लेकर जीना, यह बहुत बडी चीज़ है, सारी कलाओं से कहीं श्रेष्ठ ।"[2] इस से प्रमाणित होता है कि लाल स्वयं कला को जीवन के उत्कर्ष केलिए आवश्यक मानते हैं, जीवन की भलाई का उपकरण मानते हैं । कला स्वयं ध्येय नहीं है, जीवन की माँगलिक परिणति ही सब से बडी वस्तु है । कला उसका उपकरणमात्र ।

---

1. मादा फैक्टस - डॉ. लाल - पृ: 79.
2. वही - पृ: 55.

हमने डॉ. लाल के श्रेष्ठ नाटकों तक ही अपना विवेचन सीमित रखा है । वैसे उनके सभी नाटकों में प्रमुख प्रमेय स्त्री-पुरुष सम्बध ही है । परन्तु आपेक्षिक रूप से जिन नाटकों में यह तत्व अधिक उभर आया है उन्हीं को हमने अपने अध्ययन का विषय बनाया । इसका यह मतलब नहीं कि यह तत्व अन्य नाटकों में नहीं है ।

डॉ. लाल के बाद अनेक नाटककार हिन्दी में इसी तत्व का प्रतिपादन करते हुए सामने आये । यह विशेषकर कहने की बात नहीं कि मुख्यत: स्त्री-पुरुष सम्बध ही केवल नाटकों का नहीं बल्कि संपूर्ण साहित्य का प्रतिपाद्य है । हम आगे कुछ ऐसे नाटककारों की कृतियों का अध्ययन करेंगे जिनकी प्रतिभा आपेक्षिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली प्रतीत हुई । इनमें प्रमुख है - रमेशबक्षी, मन्नु भण्डारी, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्र वर्मा आदि ।

रमेशबक्षी के नाटकों में स्त्री पुरुष सम्बध

देवयानी का कहाना है (1972)

साठोत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बधों पर नये नये प्रयोग हो रहे हैं । इस दिशा में एक नया कदम है रमेशबक्षी का "देवयानी का कहना है" । यह नाटक परंपरागत विश्वासों पर आघात पहुँचाता है । इसकी रचना एक प्रकार से एक साहसिक प्रयोग है ।

नाटक के प्रमुख पात्र साधन और देवयानी अविवाहित होते हुए भी विवाह जीवन बिताने का ढोंग करते हैं । वे एक बरसाती में रहने की योजना बनाते हैं । साधन परंपरागत विश्वासों पर अडिग रहनेवाला साधारण सीधासादा व्यक्ति है । लेकिन देवयानी एक ऐसी आधुनिक स्त्री है जिसके मन में परंपरागत

मान्यताओं के प्रति विद्रोह है । "उसका चरित्र एक नारी की परंपरागत प्रतिमा के विपरीत आधुनिक नारी का बिम्ब उभारता है ।"[1] वह विवाह के बंधन में बंधना नहीं चाहती, माँ बनना नहीं चाहती, विवाहित जीवन का रसास्वादन चाहती है ।

साधन और देवयानी अविवाहित होते हुए भी एक साथ रहने लगते हैं । लेकिन उनके इस इस कल्पित वैवाहिक जीवन के पहले ही दिन दोनों लडने झगडने लगते हैं । तीसरे दिन उनके इस विवाह के उपलक्ष्य में आयोजित पार्टि से पहले देवयानी जैसे आयी थी वैसे ही चली जाती है । वह किसी एक ही व्यक्ति के साथ बंधकर संपूर्ण जीवन व्यतीत करने में कोई संगीत नहीं देखती । उसका कहना है - "वन एपल इज़ नाट इनअफ फार ह्वोल आफ दे लाडफ, टेस्ट मोर ।"[2] विवाह के सम्बध में वह अपना मत रेखा से प्रकट करती हुई कहती है - "दुल्हे के पीछे चलती हुई दुलहिन बुलडोज़र से बंधी एक ऐसी टैक्सी न लगे जिसका बंपर फूट गया हो ।"[3] देवयानी केलिए मातृत्व एक भयानक कल्पना है - "माँ बनने को तुम लोग जो नारी की पूर्णता कहते हो न, वह शायद इसीलिए कि उस से नारी पूरी तरह फंस सकती है । फिर कोई रास्ता नहीं । किसने यह नियम बनाया है कि विवाह और संभोग केवल पुत्र प्राप्ति केलिए किये जाते हैं ।"[4]

देवयानी अतृप्त यौनाकांक्षिणी प्रतीत होती है वह सन्तुष्ट अवस्था में रतिप्रक्रिया केलिए लालायित एवं चुम्बन या आश्लेषबद्ध मुद्रा में दर्शकों के सामने दिखायी देती है । जब वह तनाव की स्थिति में होती है तब उसके चेहरे से

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मी राय - पृ: 453.
2. देवयानी का कहना है - रमेशबक्षी - पृ: 135.
3. वही - पृ: 79.
4. वही - पृ: 97-98.

झुंझलाहट, दुत्कार एवं अशिष्टता का व्यवहार प्रकट होता है । वह अपने पहले प्रेमी सुधीर को इसीलिए छोड देती है कि "वह उसके बालों में केवल उंगली फिराकर, उरोजों पर सिर रखकर समयव्यतीत कर देता था । वह दो महीने में एक दिन को पन्द्रह मिनिट केलिए ऐसी जगह नहीं ढूँढ पाया कि एक दूसरे को ठीक से देख सकते ।"[1]

देवयानी पर पाश्चात्य संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है । उसकेलिए यौनास्वाद हेतु युवक बदलना एक साधारण बात है । उसका यौनाकर्षण नाटक में पद पद पर प्रतिबिंबित है ।[2] प्रेम में निराश होकर आत्महत्या करना उसे अभष्ट नहीं है । वह साधन से कहती है - "आत्महत्या करने और मोहब्बत में झुलस जाने से चरित्रहीन हो जाना या किसी और को खोज लेना बेहतर है ।"[3]

देवयानी साधन के साथ विवाह की घोषणा इसीलिए करती है कि "अविवाहित बिस्तरबाजी में खर्च अधिक है, डर ज़्यादा है ।"[4] उसकी दृष्टि में "शादी केवल एक पास है जिसको हाथ में रखने से खुलेआम घूमने, एक साथ बिस्तर में सोने और दुर्घटना के समय सामाजिक विरोध न होने का सर्टिफिकेट मिल सकता है ।"[5] लेकिन शादी के सम्बध में साधन की दृष्टि अलग है । उसकी राय में "शादी का मतलब प्रतिबद्धता है, एक दूसरे का साथ है, समझौता है, एड़जस्टमेंन्ट और एक दूसरे को समझना है ।"[6]

---

1. देवयानी का कहना है, - रमेशबक्षी - पृः 20.
2. वही - पृः 22, 28, 43.
3. वही - पृः 98.
4. वही - पृः 26.
5. वही - पृः 27.
6. वही - पृः 26.

देवयानी के इस बर्ताव के पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक **तथ्य** निहित है । माता-पिता के जीवन का असर बच्चों पर अधिक पडता है । देवयानी के माँ-बाप का वैवाहिक जीवन उतना सन्तुष्ट नहीं था जितना वह कल्पना करती थी । इसके सम्बध में देवयानी डैडी से कहती है - "आप को और मम्मी को जैसा विवाहित जीवन जीते देखा उसे देखकर मैं ने तय कर दिया था कि मैं सिलवर जुबिली नहीं करूँगी । आई नो हाऊ अनहेप्पी यू आर ।"[1]

नाटककार ने नाटक के अन्य पात्रों के माध्यम से भी स्त्री-पुरूष सम्बधों को उभारने का प्रयास किया है । देवयानी के माँ-बाप के अतिरिक्त पटेडिया एवं शकुन्तला, इरा, रेखा "सभी स्त्री पुरूष युग्म अपने सम्बधों की असन्तोष - जनित समस्याओं से ग्रस्त हैं ।"[2] शांति इनमें से किसी को भी प्राप्त नहीं । परिणामत: "नाटक में स्त्री पुरुष सम्बधों का सामान्य या सीमित विशेष कोई रूप नहीं उभरता और पूरा नाटक एक आरोपित दार्शनिकता या किशोर साहसिकता में बिखर जाता है ।"[3] नाटक के प्रमुख पात्र देवयानी के हर एक कथन में मनोरंजकता है, तो भी उसका चरित्र अयथार्थ प्रतीत होता है ।

---

1. देवयानी का कहना है - रमेशबक्षी - पृ: 34.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृ: 453.
3. नटरंग, खण्ड 5, अंक 20 जुलाई-सितम्बर 1972 - पृ: 66.

मन्नु भण्डारी के नाटक और स्त्री पुरुष सम्बध

बिना दीवारों के घर

समाज में ऐसे भी पुरुष हैं जो नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व बर्दाश्त नहीं कर सकते । ऐसा व्यक्ति अपनी पत्नी को भी सन्देह की दृष्टि से देखता है । "बिना दीवारों के घर" में मन्नु भण्डारी ने एक ऐसे परिवार की समस्या को चित्रित किया है जो सन्देह को ज्वाला में जलकर बिखर जाता है । अजित और शोभा आर्थिक दृष्टि से संपन्न पति-पत्नी हैं । पर उनके बीच में परस्पर सौहार्द, प्रेम, सहानुभूति और विश्वास का सर्वथा अभाव है । दोनों एक दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तित्व को सहन नहीं कर पाते । "उनके दाम्पत्य जीवन की विषमता एवं तनावपूर्ण स्थिति जिस गार्हस्थिक अव्यवस्था, बिखराव और पारस्परिक सम्बधों में तनाव को जन्म देती है उस से घर की संज्ञा झुठला जाती है ।"[1] उन्हें ऐसा लगता है कि वे बिना दीवारों के घर में जीने केलिए विवश हैं ।

अजित के मन में एक प्रकार का "काम्पलेक्स" है । वह अपनी पत्नी शोभा को नौकरीपेशा नारी के रूप में देखना नहीं चाहता है । उसका यह विचार है कि नौकरी करनेवाली नारी पति के नियंत्रण में नहीं रहेगी । उसकी यह चिन्ता तब प्रबल होती है जब उसके अन्तरंग मित्र जयन्त के सिफारिश से शोभा महिला विद्यालय की प्रधान अध्यापिका बन जाती है । अजित आधुनिक होने का दावा करता है । लेकिन शोभा के प्रति एक रूढिवादी दृष्टिकोण रखता है । वह यह नहीं जानता है कि स्त्री और पुरुष के सहयोग से ही घर का काम ठीक-ठीक चल सकता है । इस सत्य को नकार कर अजित शोभा से कहता है - "कौन कहता है औरत से कि वह नौकरी करे, छोड दे नौकरी ।"[2] वह यह नहीं

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय - पृ: 454.
2. बिना दीवारों के घर - मन्नु भण्डारी - पृ: 21.

समझता कि नौकरी पारिवारिक अर्थिक भद्रता केलिए आवश्यक है । अन्त में अजित की अहंवादिता से त्रस्त होकर शोभा अकेले घर छोड चली जाती है ।

आधुनिक जीवन की त्रासदी यह है कि बदलते परिवेश में जीनेवाले पति-पत्नी अहं के शिकार हो जाते हैं । दोनों यह साबित करना चाहते हैं कि घर के संचालन में उसकी अपनी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है । दोनों की दृढवादिता अलगाव का कारण बनती है । फल भोगन पडता है निरालंब बच्चों को । नाटक में अप्पी इसका उदाहरण है । मन्नु भण्डारी जयन्त के चरित्र से यह साबित करने का प्रयास करती है कि पारिवारिक जीवन में तीसरे व्यक्ति का प्रवेश अनर्थ ही पैदा करता है । "बीचवाला व्यक्ति चाहे हट जाय, पर सम्बधों में जो दरार पड जाती है वह कभी नहीं भरती ।"[1]

दाम्पत्य जीवन की सब से बडी विडम्बना यह है कि तनावपूर्ण सम्बधों को लेकर पति-पत्नी को घर की चहारदीवारी के अन्दर जीना पडता है । प्रस्तुत नाटक में शोभा की स्थिति उसका उदाहरण है । एक औरत को अपने घर के प्रति जितना मोह होता है उसको वह इन शब्दों में व्यक्त करती है - "घर छोडकर ही क्या कोई औरत उस घर को भूल सकती है जिसे वह अपने हाथों से बनाती है , संवारती है ।"[2] स्पष्ट है नारी का जीवन पुरुष के अभाव में अपूर्ण है । लेकिन खेद की बात यह है कि आधुनिक नारी कभी कभी अपनी अहंवादिता के कारण इस सौभाग्य से वंचित हो जाती है । कभी नारी यह सोचती है कि निर्दय एवं शंकालु पति के साथ रहने से अच्छा है इस सौभाग्य से वंचित रहना । शोभा ऐसी एक आधुनिका है । नाटक के अन्त में उसका यह कथन देखिए - "मैं अकेली ही चली जाऊँगी । जहाँ मैं ने अपनी भीतर की पत्नी को मारा है, वहीं अपने भीतर की माँ को भी मार दूँगी ।"[3]

---

1. बिना दीवारों के घर - मन्नु भण्डारी - पृ: 37.
2. वही - पृ: 34.
3. वही - पृ: 99.

आधुनिक नारी पुरानी सावित्री की जैसी नहीं । उसकी कुछ अकांक्षाएँ होती हैं । उसको जीवन के कुछ मधुर स्वप्न हैं । घर की चहारदीवारी के परे भी उसका कुछ अस्तित्व एवं व्यक्तित्व है । आधुनिक पति को एक हद तक यह मानना ही अच्छा है ।

पशु प्रतीक और स्त्री पुरुष सम्बध

हिन्दी में पशु प्रतीकों को लेकर नाटक लिखने की प्रवृत्ति आधुनिक है । इस प्रवृत्ति की शुरुआत राजनीति के सन्दर्भ में ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक "शुतुर्मुग" से हुई है । रमेश बक्षी का तीसरा हाथी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का "बकरी" और हमीदुल्ला के "दरिन्दे" इस दिशा की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं । लेकिन पशु अथवा जन्तु प्रतीकों के माध्यम से स्त्री पुरुष सम्बधों की विडम्बना एवं त्रासदी का चित्रण करने का पहला प्रयास मुद्रा राक्षस ने अपने नाटक "तेंन्दुआ" और "तिलचटठा" में किया है ।[1]

"तिलचटठा" (1973) मुद्राराक्षस

"तिलचटठा" स्त्री पुरुष सम्बधों को व्यजित करनेवाला विसंगत प्रतीक नाटक है । नाटककार के शब्दों में - "तिलचटठा मानवीय नियती की एक ऐसी त्रासदी है जिसे निरंतर अपने मानवीय - ऐतिहासिक आधार की तलाश है । नाटक में चरित्र नहीं - यह त्रासदी ही प्रमुख है, यह सत्य है । बाकी सब कुछ पात्र प्रतीक, देश, काल घटनाएं सब सिर्फ उसको वहाँ पर मौजूदी को प्रामाणिकता देनेवाले दस्तावेज़ हैं ।"[2] इस नाटक में जिन घटनाओं और पात्रों को ग्रहण किया गया है, वे देश-काल की सीमा से बंधे न होकर सार्वभौमिक हैं ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ.लक्ष्मीराय - पृ: 458.
2. तिलचट्ठा - मुद्राराक्ष चंद बातें - पृ: 7.

नाटक का आरंभ एक शयनकक्ष में एक ही पलंग पर लेटे पति-पत्नी देव और केशी के वार्तालाप से होता है । वार्तालाप केवल ऊल जलूल विषयों पर ही होता है जैसे तिलचटठे, मराहुआ कुत्ता, घडी का चटखा हुआ शीशा, बकरे की बोली बोलनेवाला काला आदमी आदि । उनके होनेवाले बच्चे तक आकर वार्तालाप रूक जाता है । देव एक दम चुप हो जाता है । यहीं उनके सम्बधों की विसंगति उभरती है । केशी के पेट में बच्चा है परन्तु वह देव से नहीं क्योंकि वह पुंसत्वहीन है । उसे ज्ञात है कि अपनी पत्नी एक डाक्टर से सम्बध रखती है । नाटक के अन्त में केशी गर्भपात केलिए "इंजक्शन" लेती है और देव नींद की गोलियाँ खाकर अपनी पीडा से निवृत्त होता है ।

नाटक के अध्ययन से यह विदित है कि इसकी रचना पात्रों की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों को लेकर हुई है । पर लेखक के अनुसार उसकी मनोवैज्ञानिकता गौण है - "ऊपरी तौर पर नाटक मनोवज्ञानिक लगता है । नाटक की मनोवैज्ञानिकता न सिर्फ गौण है बल्कि आकास्मिक भी है । "मानव मन को गहराइयाँ" जैसा विषय लेखक को बहुत गहरे ले जाता है, इसमें मुझे सन्देह है ।"[1]

नाटक में देव आधुनिक मानव का प्रतिनिधित्व करता है । उसकी विवशता आधुनिक मानव की है । अपनी पत्नी का असंगत सम्बंध जानने पर भी उसके साथ जीने केलिए वह विवश है । केशी के ज़रिए ऐसी पत्नी की दयनीय दशा का चित्रण है जो पति को पुंसत्वहीन जानकर भी उसके साथ सोने केलिए बाध्य है ।

केशी के मन में जीवन के प्रति आकांक्षा एवं सुनहले स्वप्न हैं । अपनी आकांक्षाओं पर अर्गला डालकर सोने केलिए विवश नारी के मन में पर-पुरूष की चिन्ता का आना स्वाभाविक है । असुन्दर होने पर भी वह व्यक्ति उसे फूल सा लगता है ।

---

1. तिलचटठा - मुद्राराक्षस चन्द बातें - पृः 12.

देव की पुंसत्वहीनता ही तिलचटठे के रूप में उसे काटती रहती है । तिलचटठे के प्रति उसके मन में घृणा है । लेकिन केशी खतरनाक तिलचटठे को देखकर कहती है - "तिलचटठा - नन्हा चमकीला - चिकना प्यारा सा जीव"[1] आगे वह कहती है - "आखिरी जीत उसी की होगी नन्हा-चमकीला मासूम कीडा ।"[2] स्पष्ट है तिलचटठे के प्रति उसका कथन उसके अन्तर्मन की प्रतिध्वनि है ।

तेन्दुआ

आधुनिक मानव अपने को सुसस्कृत एवं सभ्य समझता है । बाहर से सभ्य दिखने पर भी अन्दर पाशविक वृत्ति छिपी रहती है । ऐसी-मानसिकता की खोज की उपज है मुद्राराक्षस का "तेन्दुआ" । इसके प्रमुख पात्र हैं मिसेस मदान और मिसेस रेणुराय । दोनों यौन अतृप्ति से उत्पन्न काम विकृति के शिकार हैं । मिसेस मदान अपनी आत्म तुष्टि केलिए एक गरीब माली को "टार्चर" की नयी तकनीकों से दुःख पहुँचाती है । जब माली यातना से कराहता है तब मिसेस मदान आत्म तुष्टि से पुलकित हो जाती है ।

नाटक में तेन्दुआ के माध्यम से नारी चरित्र प्रतीकात्मकता के साथ चित्रित किया है । तेन्दुआ वस्तुतः एक आन्तरिक प्रतीक है जो मनुष्य के पाशविक संस्कारों को ही स्थापित करता है ।[3] माली उस जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है जो सुविधा भोगी वर्ग द्वारा मारा जाता है । नाटक का कथ्य एवं चरित्र इस बात की पुष्टि देता है कि तथाकथित सभ्य और संस्कृत समाज में पाशविक वृत्ति बढती जा रही है ।

---

1. तिलचटठा - मुद्राराक्षस - पृः 61.
2. वही ।
3. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ.लक्ष्मीराय - पृः460.

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक और स्त्री पुरुष सम्बध

"सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" (1975)

ऐतिहासिक परिवेश में रचित सुरेन्द्र वर्मा का नाटक "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" की समस्याएँ एक दम आधुनिक हैं । "यह नाटक समसामयिक स्तर पर मूल्यों के बदलाव के सन्दर्भ में दाम्पत्य सम्बधों की गहरी और बारीक छानबीन करने के साथ साथ शासक और शासन-तंत्र के आपसी रिश्ते के विश्लेषण के माध्यम से सत्ता-तंत्र के समक्ष स्वयं सत्ताधारी की विवशता नपुंसकता और त्रासदी को भी रेखांकित करता है ।"[1]

मल्लराज्य का राजा ओक्काक पुंसत्वहीन होने के कारण उत्तराधिकारी न दे सका वहाँ के अमात्य परिषद् नियोग के द्वारा रानी शीलवती को पुत्र प्राप्त करने का आदेश देती है । इस आदेश से दोनों दुःखी हो जाते हैं । फिर भी परिषद का आदेश मानकर शीलवती नियोग केलिए तैयार हो जाती है । इस घटना के जरिए नाटककार ने स्त्री-पुरुष सम्बधों की विडम्बना को चित्रित करने का प्रयास किया है । नियोग के बाद शीलवती में बहुत अधिक परिवर्तन आये हैं पतोष के साथ सम्बध स्थापित होने पर शीलवती इस निष्कर्ष पर पहुँचती है - "उस उत्तेजना और उत्माद में उन साँसों और उच्छासों में कौन सी स्त्री होती है जो होनेवाली संतान का ध्यान कर पाती हो' नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, अमात्य ! है केवल पुरुष के संयोग के इस सुख में मातृत्व केवल एक गौण उत्पादन है ।"[2]

---

1. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - जयदेव तनेजा - पृः 16.
2. सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा - पृः 52.

यौन तृप्ति स्त्री-पुरुष सम्बधों की रोढ की हड्डी है । नियोग के बाद शीलवती में आये परिवर्तन इसका उदाहरण है । अब उसके जीवन का कुछ अर्थ है । उसमें सुख और शांति मौजूद है । ओक्काक के साथ पाँच वर्ष तक वह मर्यादा का पालन करती रही । लेकिन उन पाँच वर्षों में उसे इतना सन्तोष नहीं मिला जितना एक रात की तृप्ति में मिला है । वह ओक्काक से कहती है - "इतना सुख, इतनी सिहरण, इतना रोमांच, कल रात कितनी बडी क्रान्ति हुई है मेरे जीवन में मेरे तन-मन का इतिहास ही बदल गया है ।"[1]

ओक्काक के ज़रिए पुंसत्वहीन व्यक्ति की विसंगति को उभारा गया है । उसकी विसंगति तब तीव्र हो जाती है जब शीलवती निसंकोच भाव से यह कहती है - मेरी पूरी सहानुभूति है तुम्हारे साथ ।[2]

समकालीन जीवनानुभव नाटक में रेखांकित है । काम सम्बधों के कमनीय, उदात्त चित्रण में नाटक सफल हैं । "इसमें एक ओर समसामयिक स्तर पर परिवर्तनशील मूल्यों के सन्दर्भ में दाम्पत्य एवं यौन सम्बधों का गहरा और बारीक अन्वेषण है तो दूसरी ओर शासक तथा शासन तंत्र के आपसी रिश्ते का सार्थक विश्लेषण ।"[3]

जाहिर है कि स्वांतत्रयोत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य स्त्री-पुरुष सम्बधों के बदलते तेवर का रूपायन है । राकेश से लेकर अधुनातन नाटककारों के नाटकों का विश्लेषण इस यथार्थ को और अधिक मज़बूत कर डालता है । युग जीवन के बदलते सन्दर्भों का सही रूप पकड पाने में हिन्दी के ये आत्मसजग एवं समाज-सजग नाटककार अवश्य सफल निकले हैं ।

---

1. सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा - पृ: 49.
2. वही - पृ: 55.
3. वही - भूमिका ।

पाँचवाँ अध्याय

भट्टाचार

भ्रष्टाचार

नैतिक-धर्मिक पतन और तद्जनित मूल्यच्युति को ही हम भ्रष्टाचार कहते हैं । यह आधुनिक समाज में व्याप्त बडी गहरी विपत्ति है । जीवन का कोई भी क्षेत्र इस से मुक्त नहीं है । चाहे सामाजिक हो, राजनीतिक अथवा धर्मिक हो सर्वत्र मूल्यच्युति और भ्रष्टाचार छा गया है । "स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद परम्परागत मूल्यों में तो विघटन हुआ ही, परिवार और व्यक्ति के स्तर पर भी इस विघटन के चिह्न देखने को मिलने लगे । साथ ही भ्रष्टाचार, दायित्वहीनता आदि व्यक्ति चरित्रगत न्यूतनाएं उभर कर सामने आने लगीं ।"[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की राजनैतिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन आये हैं । राजनीतिक नेता जिन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन में भाग लिया था, उसका मूल्य पाने केलिए अंधी दौड में लग गये । इसीलिए राष्ट्रीय स्तर पर अवसरवादिता, आपाधापी, भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद ने जन्म ले लिया । दिन बढते ही इसकी जडें दृढ से दृढतर होने लगी । राजनैतिक नेता स्वार्थसिद्धि केलिए भाषा, प्रदेश, जाति आदि का सहारा लेने लगे। जनता को धोखा देने केलिए बडी बडी योजनाएं बनायी जाती हैं । जनता के कल्याण केलिए आधार शिलाओं का न्यास होता है, चुनाव से पूर्व वोट लेने केलिए तरह तरह की रियायतें दी जाती हैं । किन्तु यह राजनीतिक छल के अलावा कुछ नहीं । जो एक बार गद्दी पर बैठ जाता है, वह उसको अपनी जागीर समझ लेता है । परिणाम यह होता है कि "समाज में संशय, उच्छृंखलता, स्वार्थपरता,

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृ: 42.

संत्रास, व्यक्तिवादिता एवं विघटन सर्वत्र व्याप्त है । आन्तरिक फूट, सामाजिक झगडे, प्रांत तथा भाषा को लेकर द्वन्द्व, आन्तरिक वर्गहितों और स्वार्थों तथा विरोधी विचारों का टकराव दिखायी देने लगा ।"[1]

देश की सामाजिक और धार्मिक स्थिति राजनैतिक स्थितियों से भिन्न नहीं होती है । समाज में राजनैतिक बदलाव के कारण उथल-पुथल होता है । धार्मिक पतन सब कहीं प्रकट होने लगता है । हिन्दू और मुसलमान धर्म के नाम पर परस्पर लडते हैं । वैज्ञानिक उन्नति के कारण बेकारी बढने लगी है । किसी न किसी प्रकार धन कमाना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है । आर्थिक विषमता के कारण पति-पत्नी घर के बाहर काम करने केलिए बाध्य बन जाते हैं । आम जनता किंकर्तव्य विमूढ हो गयी है । विसंगति उसके जीवन की संगिनी बन गयी है । स्वतंत्र वातावरण में साँस लेने का उनका स्वप्न स्वप्न ही रह गया है । देश में मुल्यच्युति और भ्रष्टाचार बढने लगे हैं । स्वतंत्रयोत्तर, विशेषकर 1950 के बाद के भारत की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति यही है ।

साहित्यकार बडा संवेदनशील प्राणी है । अपने आसपास की स्थितियों से वह अप्रभावित नहीं रह सकता । इसीलिए स्वाभाविक है कि वर्तमान साहित्यकार अपनी रचनाओं के द्वारा इस विडम्बनापूर्ण स्थिति का प्रतिपादन करे । अन्य कलाओं की अपेक्षा नाटक अधिक संवेदनशील होता है । इसीलिए उपर्युक्त स्थितियों का आकलन स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी नाटकों में सर्वाधिक प्रतिबिंबित होता है । जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्रवर्मा, शंकर शेष सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि की नाट्य रचनाएँ इसके प्रमाण हैं ।

लेखकों की नामसूची के आधार पर ही अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा हमने की है । परन्तु इस अध्याय में नामसूची का क्रम सुरक्षित नहीं रखा जा सकता । क्योंकि कुछ नाटककार ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में समूची प्रवृत्तियाँ प्रतिबिंबित नहीं होतीं ।

---

1. प्रसादोत्तर कालीन नाटक - डॉ. भूपेन्द्र कलसी, पृ: 159.

इसीलिए प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य लेखकों के क्रम के आधार पर नहीं करके रचनाओं के क्रम के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है । आधुनिक नाटकों में विद्यमान भ्रष्टाचार सम्बधी प्रतिपादनों का हम इस अध्याय में विश्लेषण करना चाहते हैं । यह आवश्यक नहीं कि यह प्रवृत्ति सभी नाटककारों या सभी नाटकों में प्रतिबिंबित हो ।

पहला राजा

जगदीश चन्द्र माथुर का "पहला राजा" पौराणिक कथा पर आधृत आधुनिकयुग बोध का नाटक है । यह आधुनिक अन्योक्ति का मंचीय रूप है ।[1] इसके सभी पात्र पौराणिक होते हुए भी आज के किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । वर्तमान राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का दर्शन इसमें दर्शनीय है ।

नाटक के नायक पृथु के पहला राजा बनने पर जो समस्याएं उठती हैं उनमें नेहरु काल के मंत्रिमंडल में व्याप्त समस्याएं प्रतिबिंबित हैं । इसके अतिरिक्त शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग आदि के चरित्र आज के राजनैतिक नेताओं का रूप उभारते हैं । वे ऋषियों के रूप में नहीं स्वार्थी नेता के रूप में सामने आते हैं । पृथु के पहला राजा घोषित होने पर शुक्राचार्य पुरोहित मंत्री, गर्ग ज्योतिषी मंत्री तथा अत्रिमुनि अमात्य बन जाते हैं । शुक्राचार्य अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य से समस्त मंत्रिमंडल की शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करता है । पूरे नाटक में इन मुनियों की अवसरवादिता का चित्रण है । "यद्यपि मुनियों को आधुनिक ठेकेदारों के समकक्ष प्रस्तुत करना उनके चरित्र की गुरुता को नष्ट कर देता है किन्तु नाटककार का उद्देश्य आधुनिकयुग के मंत्रिमंडल में होनेवाले षड्यंत्रों को चित्रित करना रहा है ।"[2]

---

1. पहला राजा (भूमिका) जगदीशचन्द्र माथुर ।
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 357-58.

पृथु पूरा परिश्रम करने पर भी प्रजा की पीडा एवं भूख को नहीं मिटा पाता । वह अपने मंत्रिमंडल के मंत्रियों पर पूरा विश्वास करता है । किन्तु मंत्रिगण स्वार्थवश उसकी योजनाएं पूर्ण नहीं होने देते हैं । नाटक के दूसरे अंक में अकाल का कारण सरस्वती नदी का सूखना है । पृथु एक नहर के ज़रिए दृषद्वती की धारा का जल सरस्वती में डालना चाहता है । लेकिन शुक्राचार्य और अत्रि के षडयंत्र के फलस्वरूप वह असफल सिद्ध होता है । उर्वि और कवष सन्देश भेज रहे हैं कि हिमालय में वर्षा प्रारंभ हो गयी है । बाँध का थोडा ही हिस्सा बनने को रहा है । भृगु आश्रम को टोकरियों और कुदालियों केलिए ठेका दिया गया है । अत्रि-आश्रम की आपत्ति है कि यदि भृगु आश्रम के किसानों की तादाद बाँध कर बढा दी गयी तो भृगुवंशी आश्रम को आमदनी और भी बढ जायेगी । लेकिन शुक्राचार्य इधर गर्ग और अत्रि को समझाते हैं कि "दृषद्वती का यह बाँध पूरा होते ही राजा पृथु हम लोगों को दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंकेगा और उसके मंत्रिमंडल में होंगे जंघापुत्र कवष और दस्यु-सुन्दरी उर्वी ।"[1] "आधुनिक प्रथम राजा के मंत्रि मंडल में व्याप्त ईर्षया-द्वेष और उसके कारण देश में अकाल और अन्नाभाव की स्थितिभूख की पुकार ! यही दिखाना नाटककार का उद्देश्य है ।"[2]

आधुनिक राजनीति में शुक्राचार्य, गर्ग, और अत्रि की कमी नहीं । शासन करनेवाला समर्थ होने पर भी सहयोगियों के षड्यंत्र के कारण उसकी शासन-नीति असफल होती है । आज कल राजनीति में हर एक पार्टि अपनी स्वार्थता की पूर्ति केलिए काम करती है । राजनैतिक भ्रष्टाचार के कारण देश की उन्नति कभी भी नहीं होती है ।

माथुर ने भृगु और अत्रि वंश के प्राचीन विवाद को आज की राजनीति में दिखाने का साहस किया है । "उनका उद्देश्य आधुनिक युग के मंत्रिमंडल में होनेवाले षड्यंत्रों को दिखाना है, न कि प्राचीन ऋषियों के चरित्र को दोषपूर्ण बताना ।"[3] राज-नैतिक भ्रष्टाचार के कारण बडी बडी योजनाएं असफल सिद्ध होती है । मंत्रियों के मतभेद और उद्धरदर्शिता के कारण देश की राजनीति पतन की ओर बढ रही है ।

---

1. पहला राजा - जगदीशचन्द्र माथुर, पृः 93.
2. आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव - दशरथ ओझा, पृः 193.
3. वही ।

मिस्टर अभिमन्यु

मिथक के ज़रिये समसामयिक समस्याओं का चित्रण करना आधुनिक नाटक की एक प्रमुख प्रवृत्ति है । "मिस्टर अभिमन्यु" डॉ. लाल का एक मिथकीय प्रयोग है । "यह अभिमन्यु "महाभारत" का नहीं केवल "भारत" का और आज़ादी के बाद के भारत का है अपने विशिष्ट चरित्र-बिन्दुओं को छोडकर लगभग वही सारी यन्त्रणाएं भोगता है जो महाभारत में "अभिमन्यु" को भोगना पडा ।"[1]

"मिस्टर अभिमन्यु" वर्तमान राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है । "इसमें डॉ. लाल ने राजनीतिक ईमानदारी का लोप राजनीतिक व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शित किया है, जो बेईमानी की राजनीति के चक्रव्यूह से निकलने का नारा देते हैं, व्यवस्था के प्रति झूठी लडाई लडते हैं । नाटक के नायक में नौकर शादी को प्रतीकात्मक रूप में दिखाया गया है जो शोषण और राजनीतिक बेइमानी के चक्कर में फंसा आत्मिक रूप से आत्महत्या कर लेता है ।"[2]

नाटक के प्रमुख पात्र भ्रष्ट राजनीतिकदलों का प्रतिनिधित्व करता है । चतुरभुजराक्षस की तरह पूँजीपति (केज़रीवाल) राजनीतिज्ञ नेता (गयादत्त) , व्यवस्था का अंग भ्रष्टाचार और उसमें लिप्त सरकारी पदाधिकारी (राजन), सम्पूर्ण भारत की हर व्यवस्था को शोषण, भ्रष्टाचार और नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन का औज़ार बनाने केलिए उत्तरदायी हैं ।

कलक्टर राजन ईमानदार और आदर्श विचारों का व्यक्ति है । उसका पिता एक मध्यवर्गीय परिवार का वकील है । पत्नी विमल भौतिक सुखों और सामाजिक सम्मान में गर्व करनेवाली मध्यवर्गीय औरत है । दो बच्चे हैं कान्वेंट में पढते हैं । एक बार राजन की देख-रेख में आम चुनाव होता है । शासक दल का उम्मीदवार गयादत्त

---

1. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृ: 87.
2. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ:29

विजयी होता है और "लेबर फ्रन्ट" का नेता आत्मन हार जाता है । इस जीत का श्रेय राजन को दिया जाता है और सरकार कमिश्नर के रूप में उसकी पदोन्नति कर देती है । राजन ने सोचा उसे एक ऐसे षड्यंत्र का भागीदार बनाया जा रहा है जिस से उसका कोई सम्बध नहीं । वह नौकरी से त्यागपत्र देकर अपना विरोध प्रकट करना चाहता है । लेकिन इस बीच कई घटनाएं तेज़ी से घट जाती हैं । केज़रीवाल की मिल को टैक्स के बकाए की वजह से उसने सील कर दिया था । केज़रीवाल राजन के पिता को पैखी केलिए राजन के पास लाता है । नवनिर्वाचित शासक दल का नेता गयादत्त राजन पर दबाब डालता है कि मामले को रफा दफा कर दिया जाय । लेकिन राजन अटल रहता है । अंततः राजन के बँगले के बाहर गयादत्त आत्मन की हत्या कर देता है और इस हत्या के षड्यंत्र में राजन को भी फंसाने की धमकी देता है । उसको "ब्लैक मेल" कर उस पर दबाब भी डालता है कि वह केज़रीवाल पर कोई और कार्यवाही न करे । राजन की पत्नी विमल राजन को अपने बच्चों और खुद राज के भविष्य की दुहायी देती है विमल कहती है - "तुम्हारे सारे दोस्त रिश्तेदार ऐसे हैं, जिनके बच्चे केवल कॉन्वेंट में पढते हैं, जिनकी बडी बडी शादियाँ हुई हैं तुम इतने ईमानदार, जिम्मेदार और जज़्बाती इन्सान रहे हो ।"[1] अन्ततः राजन वही करता है जो सब कहते है - पिता, पत्नी, गयादत्त सब । वह आत्मन की आत्महत्या की पुष्टि करता है, गयादत्त का समर्थन करता है और पत्नी एवं पिता को बात मानकर नए पद के "चार्ज सर्टिफिकेट फार्म" पर हस्ताक्षर कर देता है ।

स्वतंत्र भारत की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का उत्तम उदाहरण है - मिस्टर अभिमन्यु का कथ्य । आज की राजनीति इतनी दूषित हो गयी है कि कर्तव्य पर अडिग रहनेवाले व्यक्ति भी उस से बच नहीं सकते । कलक्टर राजन उसका उदाहरण है । "मिस्टर अभिमन्यु" के माध्यम से उठाया गया भ्रष्टाचार का प्रश्न समसामयिक, संगत एवं सार्थक है । वह बहुत से लोगों का, शायद हम में से प्रत्येक का प्रश्न हो सकता है ।"[2]

---

1. मिस्टर अभिमन्यु - लक्ष्मीनारायण लाल, पृः 23.
2. मिस्टर अभिमन्यु - (भूमिका) ।

कलंकी

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने "कलंकी" में प्रतीकों के माध्यम से वर्तमान राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का विश्लेषण किया है । "कलंकी हमें इस वास्तविकता से अवगत करवाता है कि हर युग के शासक को अपनी निरंकुश सत्ता चलाने केलिए किसी-न-किसी गलत तंत्र की सहायता अवश्य लेनी पडती है अतः नाटक मध्ययुगीन होकर भी आधुनिक भावबोध का है ।"[1]

कलंकी का अकुलक्षेप एक निरंकुश सामन्त है । धर्म की आड में वह शासन करता है । उसका पुत्र हेरूप जब उसके सामने सद्-असद् का प्रश्न उठाता है तो उसे विहार में शिक्षा प्राप्त करने केलिए भेज देता है । इधर स्वयं हूणों के आक्रमण से आतंकीत कायर अकुलक्षेप शत्रु का प्रतिरोध लेने के बदले कहीं किसी पर्वत पर जाकर आत्म हत्या करता है । उसकी अनुपस्थिति में तांत्रिक कल्कि अवतार की भविष्यवाणी का बहावा देकर प्रजा के शोषण की प्रक्रिया को उसी प्रकार जारी रखता है । हेरूप विहार से वापस लौट आता है और प्रजा को सही बात से अवगत कराता है । तांत्रिक चाल से हेरूप की हत्या करता है । लेकिन जनता में हेरूप की चेतना का निवास हो चुका है । अन्त में अवधूत की चालाकी निरावृत होकर सामने आती है ।

"कल्कि अवतार" के मिथक पर आधारित यह नाटक पूरे तौर पर आधुनिक है । नाटक में जिस प्रकार तांत्रिक कल्कि अवतार की भविष्य वाणी देकर प्रजा को शान्त करता है उसी प्रकार वर्तमान राजनीति में शासक वर्ग जनता को प्रश्नहीन बनाने केलिए उन्हें सुखमय भविष्य का वादा देते हैं । आजकल राजनीतिक पार्टियों के लोग जनता से कहते हैं कि आप हमें वोट दें ताकि हमें आप की सेवा करने का मौका मिल जाय और अपके सारे दुःख और चिन्ताएं हम दूर करेंगे । लेकिन चुनाव में जीत जाने पर वादा का पालन नहीं होता है । तब वे और किसी बहाने से जनता को शान्त करते हैं ।

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृः 187.

आज की राजनीति में अगर कोई व्यक्ति शासन की आलोचना करता है तो किसी न किसी बहाने से उसे दूर कर देता है । वर्तमान राजनीति स्वार्थ लिप्सा से एकदम कलंकित हो गयी है । साधारण जनता का शोषण सदा हो रहा है । सुन्दर भविष्य का उसका स्वप्न स्वप्न ही रह जाता है । भ्रष्टाचार बढता ही रहता है । इसका अन्त राजनीति में कभी नहीं होगा ।

पशु प्रतीक के द्वारा भ्रष्ट राजनीति का चित्रण

शुतुरमुर्ग (1968)

ज्ञानदेव अग्निहोत्री का यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार को लक्ष्य करके लिखा गया है । "इसमें व्यवस्था और जनसाधारण की आकांक्षाओं के द्वन्द्व के बीच राजनीतिक हथकंडों के साथ सर्वहारा के शोषण को नाटकीय संघर्ष में उभारा गया है । सीमा संघर्ष के नाम पर आन्तरिक संघर्षों और आर्थिक दुर्व्यवस्था को छिपाये रखने की शासन की नीति का उद्घाटन है ।"[1]

शुतुरमुर्ग ऐसे शासक वर्ग का कल्पित रूप है जो सचेत होकर जनता की आँखों में धूल झोंक रहे हैं । अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति केलिए नित नये पैंतरे बदलने में व्यस्त हैं । शुतुरमुर्ग का स्वभाव है कि वह आसन्न आपत्ति को देखक कर आँखों समेत अपनी चोंच रेत में डुबो देता है और पलायन की संपूर्ण अनुभूति में यह कल्पना करने लगता है कि उसे कोई नहीं देख रहा है । "उसे कोई नहीं जान रहा है और वह सुरक्षित है ।"[2]

---

1. प्रसादोत्तर कालीन नाटक – भूपेन्द्र कलसी, पृः 173.
2. शुतुरमुर्ग – ज्ञानदेव अग्निहोत्री, पृः 12.

नाटक का राजा अपनी नगरी में एक सोने की "शुतुर-प्रतिमा" का निर्माण और उस पर स्वर्ण छत्र की स्थापना पर वस्तुस्थिति को छिपाने का प्रयास करता है । निजस्थिति यह है कि देश में गरीबी है, लोग भूखों मर रहे हैं । "देश का सारा धन सारी प्रतिभा, सारे उपकरण, महज एक शुतुर की प्रतिमा बनाने में लगाये जा रहे हैं ।"[1] राजा जनता का ध्यान दूसरी ओर लगाने और अपनी शक्ति एवं सत्ता को सुरक्षित बनाये रखने केलिए ही ऐसा कार्य करता है ।

राजा अपने मंत्रिमंडल के कारनामों से भली-भाँति परिचित है । वह जानता है कि "शुतुर प्रतिमा" के निर्माण के बहाने विकास मंत्री, रक्षामंत्री, महामंत्री आदि राजकोष से धन का अपहरण करते हैं । इन्हीं धूर्त मंत्रियों की आड में वह स्वयं को और शासन सत्ता को सुरक्षित रखता है । यह कार्य वह चौबीस वर्षों से कर रहा है । लेकिन जब जनता राजा की नीति को जान गयी तब विरोधी लाल के नेतृत्व में राजमहल के बाहर विरोध प्रकट करती है । विरोधी लाल कहता है कि राज और मंत्रिमंडल के सारे लोग भ्रष्ट हैं । शुतुर प्रतिमा पर सुनहरी-छत्र नहीं चढा है । इसकेलिए स्वीकृत धन राशि विकास मंत्री के हाथों पहुँच गयी है । राजा चालाकी से उक्त मंत्री को पदच्युत करके विरोधी लाल को रख दिया जाता है उसका नाम सुबोधी लाल रख देता है । वर्तमान राजनीति में हम कितने ही विरोधी लाल को देख सकते हैं जो पद मिलते ही सुबोधीलाल हो जाते हैं । नाटक के अन्त में राजा, जनता का ध्यान राजकीय कार्यों की आलोचना से हटाकर अन्यत्र लगाने केलिए शुतुर नगरी की सीमाओं पर रक्त वंशी और रक्तबीज की सेनाओं के आक्रमण का भ्रामक प्रचार करता है । राष्ट्र के नाम अपने सन्देश-प्रसारण में वह कहता है - "आगे एक लंबा और कटु संघर्ष है । हम अपनी प्रजा को कष्ट आँसु और पीडा के अलावा और कुछ देने का वचन नहीं करते ।"[2] आज कल ऐसे भाषण ही नेताओं केलिए सुरक्षा-कवच बनते हैं ।

---

1. शुतुर्मुर्ग - ज्ञानदेव अग्निहोत्री, पृ: 18.
2. वही - पृ: 49.

अन्त में मंत्रि मंडल, प्रजा के विरोध के कारण शुतुर प्रतिमा को तुडवाने की योजना प्रस्तुत करता है । जनता का विश्वास जीतने की इच्छा से राजा उसकेलिए सहमत होता है । लेकिन मामूलीराम राजा से कहता है, "महाराज शुतुरमुर्ग को तो तोडने का प्रश्न ही नहीं उठता । सोने का शुतुरमुर्ग कभी बना ही नहीं आप के योग्य मंत्रियों ने आप के साथ बहुत बडा छल किया है । महाराज, आपका सोने का शुतुरमुर्ग सिर्फ कागज़ पर बना होगा और कागज़ पर ही टूट गया (कटुता से) लेकिन असली शुतुरमुर्ग तो आप हैं जो हमें खाकर और हमें पीकर अपने आप को बनाते रहे ।"[1] राजा इन सब से परिचित है क्यों कि वह सचेत है । अन्त में अन्य मंत्री राजा को पदच्युत कर महामंत्री को राजा बनाते हैं ।

सारा नाटक समसामयिक भ्रष्ट राजनीति का उत्तम उदाहरण है । नाटककार युग चेतना को इस प्रकार समाजिकों में प्रक्षेपित करता है कि वे व्यर्थ के भुलावों से ऊपर उठकर अपना और देश का वास्तविक हित समझ सकें एवं कूटनीति के इन कर्णधारों की थोथी और खोखली चालों में फंसने से बच जायें ।

बकरी (1974)

भारत की जनता आज भी नेताओं और धार्मिकों की चालों को न समझ पाने के कारण शोषण की चक्की में पिस रही है । नेता लोग राष्ट्रपिता गाँधीजी के खादी-प्रेम एवं अहिंसा सिद्धान्त आदि की नीतियों की आड में शोषण का जाल फैलाने में सफल हुए हैं । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक, "बकरी" इस दिशा की ओर संकेत करता है ।

"बकरी" समकालीन राजनीति के छद्म और जनविरोधी चरित्रों के द्वारा राजनैतिक क्षेत्र के उन स्वार्थी व्यक्तियों की मनोवृत्ति को व्यक्त करता है जो

---

1. शुतुर्मुर्ग - ज्ञानदेव अग्निहोत्री, पृ: 77-78.

गाँधीवादी विचारों के प्रति जनता की आस्था का लाभ उठाकर कुर्सी और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । "बकरी उस गरीब और निरीह जनता का प्रतीक है जिस से तथाकथित गाँधीवादी नेता पहले पैसा दुहते हैं, फिर वोट दुहते हैं और फिर कुर्सी ।"[1] समाज के इन नेताओं के सामने केवल अपना स्वार्थ ही प्रमुख रहता है । जनता की गरीबी को हटाने केलिए वे कुछ भी नहीं करते हैं ।

नाटक में भ्रष्ट राजनैतिक गतिविधियों का चित्रण है । इसके सभी पात्र वर्गीय हैं । दुर्जन सिंह, कर्मवीर, और सत्यवीर उनमें प्रमुख हैं । मंत्री एवं पुलीस व्यवस्था का विकृत रूप उभारते हैं । सिपाही सत्ता का प्रतीक है । दुर्जनसिंह उन सुविधायोगी राजनीतिज्ञों का प्रतीक है जो गाँधीवादी विचारधारा के पोषक रूप में अपने स्वार्थों को सिद्धि करते हैं । कर्मवीर और सत्यवीर गाँधीजी के आदर्शों के प्रतीक होने पर भी व्यवहार के धरातल पर गाँधीजी के आदर्शों का पालन नहीं करते । नाटक में पीडित और शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र हैं काको, काका, चाचा, राम आदि । ये सब भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था से पीडित हैं ।

नाटक में बकरी प्रतीक है । फिर भी उसका विशेष स्वरूप और शील भी व्यंजित होता है । "यह बकरी दूध देनेवाली, घास भरनेवाली बकरी नहीं है । यह तो कुर्सी, धन, प्रतिष्ठा देती है और बुद्धि, बहादुरी और विवेक को चरती है । उसके नाम पर स्वार्थी नेता एवं मंत्री "बकरी शांति प्रतिष्ठान, "बकरी संस्थान", "बकरी सेवा संघ", "बकरी सेवा मंडल" आदि बहुत सी संस्थाएं निर्मित करते हैं ।"[2] स्पष्ट है "बकरी राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यक्त करता है । इसके सम्बध में डॉ. प्रतिभा अग्रवाल अपना विचार यों व्यक्त करती है - "बेकरी" समय के साथ-साथ गहरी होती स्वार्थी नेता की तलछट और लगातार होते हुए सामाजिक और राजनैतिक अन्याय के विरुद्ध एक साधारण आदमी की असाधारण खीझ, गुस्से और प्रतिशोध का दस्तावेज़ है ।"[3]

---

1. बकरी - सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ: 47.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मी राय, पृ: 470.
3. धर्मयुग, जुलाई 1968, पृ: 18.

सिंहासन खाली है (1974)

सुशील कुमार सिंह का "सिंहासन खाली है" नाटक समाज और राजनीति की विडम्बनाओं को उजागर करता है । नाटक का आरंभ सूत्रधार के इस कथन से होता है - "आमंत्रित सज्जनों ! मुझे एक सुपात्र की तलाश है । सुपात्र जो, इस सिंहासन पर बैठ सके । मनुष्य का इतिहास सिंहासन पर बैठने का इतिहास है । यह न होता तो शायद मनुष्य के इतिहास का निर्माण भी नहीं होता । अनादि काल से सिंहासन खाली नहीं रहा लेकिन आज आज यह सिंहासन खाली है अभी अभी खाली हो गया है क्योंकि इस पर बैठनेवाला राजा सत्य, अहिंसा और न्याय को हत्या करके भाग गया है ।"[1] इस कथन से ही वर्तमान राजनीति में व्याप्त अनाचार उभरकर सामने आता है । सिंहास पर बैठने केलिए वही योग्य है जो सत्य, अहिंसा और न्याय की रक्षा कर सकता है । ऐसे सुयोग्य पात्र की तलाश में कथ्य आगे बढता है ।

नाटक में महिला, नेता अन्य व्यक्ति - एक, दो, तीन अपने को सिंहासन पर बैठने केलिए योग्य समझते हैं । लेकिन ये सभी अयोग्य सिद्ध होते हैं । एक दूसरे के विरोध के कारण कोई भी सिंहासन पर न बैठ सकता । परिणाम यह निकलता है कि सिंहासन खाली ही रहता है ।

सुशीलकुमार सिंह ने अपनी रचना में आज की राजनैतिक परिस्थितियों पर सशक्त व्यग्य किया है । "नाटक में दिखलाए गये सत्ता केलिए संघर्ष, विरोध, झूठे आश्वासन और व्यर्थ के वायदे आज के युग की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं ।"[2] वर्तमान राजनीति में नेता चुनाव जीतने केलिए जनता से प्रतिज्ञाएँ करता है , मंचों पर अपने "मैनिफेस्टो" पढता है । ठीक वैसे ही नाटक में एक नेता इस प्रकार भाषण देता है -

---

1. सिंहासन खाली है सुशील कुमार सिंह, पृ: 7.
2. बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत, पृ: 162.

"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपकी उन्नति और तरक्की केलिए नये-नये कल-कारखानों का उद्घाटन करूँगा । भारी लागतों के बडे बडे बाँधों का शिलान्यास करूँगा, सूखा, बाढ, अकाल और भूकम्प से पीडित क्षेत्रों का दौरा करूँगा टैक्सों अथवा करों का नामो-निशान मिटा दूँगा । विदेशों से भारी सहायता प्राप्त करूँगा- धरती पर स्वर्ग उतार दूँगा देश की गरीबी, भूखमरी, बेरोज़गारी और तमाम समस्याएं पलक झपकते सुलझा दूँगा ।"[1] उक्त कथन में आज के राजनीतिक नेताओं का सच्चा चित्र दिखता है । चुनाव में झूठा भाषण, किराये के आदमी रखना, विरोधी पक्ष को तोडना आदि बातें साधारण हो गयी हैं । नाटक में एक महिला एक नेता से प्रश्न करती है कि ये सब आपके आदमी हैं या किराये के भी । नेता मुस्कुरा कर कहता है - "कुछ अपने कुछ किराये के । और कुछ विरोधी पक्ष को तोड लिया है । यह तो चुनाव है और चुनाव में हर प्रकार के हथकंडे अपनाने की छूट तो दी जाती है ।"[2] यही वर्तमान राजनीतिक भ्रष्टाचार का सही चित्र है ।

चुनाव के षड़यंत्र का कुपरिणाम है कि सच्चरित्र व्यक्ति सामने नहीं आते । साधारण जनता अधिकारियों से सदैव उत्पीडित है । सुयोग्य व्यक्तियों को अधिकार दिलाने की आम जनता की इच्छा सफल नहीं होती । क्योंकि राजनीति में सत्य, अहिंसा और न्याय के मार्ग पर बढनेवाले व्यक्ति अप्राप्य है । वर्तमान राजनीति इतनी कलुषित हो गयी है ।

अब्दुल्ला दीवाना

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का विसंगत नाटक "अब्दुल्लादीवाना" वर्तमान राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है । नाटक में अब्दुल्ला उस नैतिकता का प्रतीक है जिसे मारकर नया उच्च वर्ग आगे आया है । उसी वर्ग का

---

1. सिंहासन खाली है - सुशीलकुमार सिंह, पृ: ।।.
2. वही - पृ: 42.

खोखलापन और नंगापन प्रकट करना ही नाटककार का उद्देश्य है । "यहाँ नाटककार का प्रमुख अभिप्राय सामाजिक चेतना जगाना है, न कि एक भावप्रधान, कथाप्रधान नाटक से मनोरंजन करना ।"[1]

स्वतंत्रता के पश्चात भारत के राजनैतिक क्षेत्र में नैतिकमूल्यों का पतन हुआ है । स्वतंत्रता से पहले राजनीति में सत्य, अहिंसा और न्याय का सर्वोच्च स्थान था । लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में पूँजीवादी सत्ता बढती गयी । शासक सत्य और नैतिक मूल्य पर ध्यान दिये बिना निरंकुश शासन करने लगे । इस प्रकार के क्रूर शासन का फल भोगना पडता है साधारण जनता को । "अब्दुल्ला" भारत के नैतिक मूल्य का प्रतीक है "अब्दुल्ला एक व्यक्ति विशेष नहीं है वह हमारे जीवन का एक बृहत्तर सत्य है, हमारा नैतिक मुल्य है, हमारे देश की राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है ।"[2] स्पष्ट है अब्दुल्ला मरे हुए सामाजिक मूल्यों का प्रतीक है । स्वतंत्रता के बाद जो संपन्न वर्ग पनप उठा है उसने अब्दुल्ला रूपी पुराने मूल्यों की हत्या की है । अब्दुल्ला की हत्या में अवसरवादी राजनीतिज्ञों का भी हाथ है - "अब्दुल्ला की हत्या में युवा वर्ग का भी उतना ही हाथ है जितना अवसरवादी पुरूष और सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञ का ।"[3]

आज राजनीति में भ्रष्टाचार ही पनप उठा है । राजनीतिज्ञ अवसरवादी बन गया है । जनहित को ताक पर रखकर वे शासन चला रहे हैं । साधारण लोगों की आवाज़ की गणना नहीं होती हैं - "आम आदमी की आवाज़ मात्र वोट देना रह गयी है जिसमें कोई शक्ति नहीं । वह व्यक्ति से वोट होकर रह गया है । सत्ताधारियों के निर्णयों को, न्याय के निष्पक्ष न होने पर वह कहीं ललकार भी सकता ।"[4] वर्तमान राजनीति में आम आदमी राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली मात्र हैं ।

---

1. अब्दुल्ला दीवाना (भूमिका) लक्ष्मीनारायण लाल, पृ: 14.
2. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृ: 105.
3. अब्दुल्ला दीवाना (भूमिका) - डॉ. लाल, पृ: 15.
4. वही - पृ: 16.

राजनीति में आज दल बदल एक साधारण बात है । उसमें पार्टी, सिद्धान्तों केलिए नहीं निजी-हितों की खातिर अपनाई जाती है । नाटक में चपरासी इसकी ओर संकेत करता है - "जी हाँ, पहले वह तिरंगे कपडे पहनता था, फिर लाल, सफेद, फिर काला, फिर लाल, फिर पीला और फिर गेरूआ । कहने लगा एक ही रंग का कपडा मैं रोज़ रोज़ नहीं पहनूँगा । फिर वह रोज़ रंग बदलने लगा, जी हाँ, हर रोज़ ।"[1] दल-बदलू राजनीति में जब स्वहित सिद्ध नहीं हो तब एक रंग का कपडा त्याग कर दूसरे रंग का कपडा (दूसरी पार्टि) पहन लिया जाता है ।

नाटक में शासन के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी व्यक्त किया है । आज नौकरी मिलने केलिए सिफारिश अनिवार्य है । यह सिफारिश अदालतों तक जा पहुँची है । अदालतों में मुजरिमों की मुक्ति केलिए जज सिफरिशी चिट्ठियों के आधार पर निर्णय लेते हैं । नाटक में जज कहता है - "यह देखिए, आप लोगों केलिए इतनी सिफारिशें आई हैं । मिनिस्टर ऑफ फॉरेस्ट, मिनिस्टर हैल्थ एण्ड हाइजीन चीफ सेक्रेटरी, डाइरेक्टर एनिमल-हसबैंडरी और इसी तरह न जाने कितनी हैं । भई, इनमें किसी एक की ही सिफारिश काफी नहीं थी ।"[2]

"अब्दुल्ला दीवाना" वर्तमान राजनीति और शासन के क्षेत्र में व्यक्त भ्रष्टाचार का दस्तावेज़ है ।

मरजीवा (1974)

मुद्राराक्षस का मरजीवा नाटक समाज के शिक्षित युवा वर्ग की विसंगति को चित्रित करने के साथ साथ राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी व्यक्त करता है । राजनीतिक व्यवस्था के हथकण्डों एवं उसकी बुराइयों का पर्दाफाश करना नाटककार का उद्देश्य है ।

---

1. अब्दुल्ला दीवाना - डॉ. लाल, पृ: 69 (1984).
2. वही - पृ: 83.

आज का बुद्धिजीवी व्यक्ति स्वाभिमान और आदर्श के कारण सामाजिक या राजनैतिक व्यवस्था से समझौता नहीं कर सकता । लेकिन बुरी व्यवस्था के विरोध भी नहीं कर सकता । परिणाम यह निकलता है कि वह मानसिक रूप से टूट जाता है । ऐसे व्यक्ति को कभी कभी राजनीति का शिकार होना पडता है । नाटक में "आदर्श" और "भूमि" ऐसे लोगों के प्रतिनिधित्व करते हैं । आदर्श को स्वाभिमान के कारण नौकरी से हाथ धोना पडता है । नौकरी के बिना पिता और पत्नी का पालन पोषण कठिन हो जाता है । उसकी पत्नी भूमि को मंत्री शिवाराज गंधे नौकरी देने केलिए तैयार है । लेकिन उसकी शर्त यह है कि भूमि उसके साथ एक रात गुज़ारे । आदर्श अपने अहम के कारण इसे सह नहीं पाता और नींद की गोलियाँ खाकर पत्नी और पिता के साथ आत्महत्या का निश्चय करता है । लेकिन गोलियों से केवल पिता की मृत्यु होती है । अन्त में वह पुलीस का शिकार बनता है । नाटक के अन्त में मंत्री पद से निष्कासित शिवाराज गंधे आदर्श को विरोधी दल के मंत्री को गिराने केलिए प्रधान मंत्री के घर के सामने ज़िन्दा जला देने की योजना बनाता है । इसे आत्मदाह की संज्ञा देकर वह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है ।

आज की राजनीति में शिवराज गंधे जैसे लोगों की कमी नहीं है । रक्षक ही भक्षक बन जाता है । अवसरवादिता, लम्पटता और स्वार्थ सिद्धि आज राजनीति की विशेषताएं बन गयी हैं । निर्दोष जीवन की बलि देकर अवसरवादी नेता उन्नति के शिखर पर पहुँचते हैं । नाटक के अन्य पात्र –पुलीस अफसर, हवलदार, पत्रकार आदि व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में व्याप्त अनैतिकता, भ्रष्ट आचरण और शोषण की वृत्ति को उजागर करते हैं । इसीलिए नाटककार कहता है – "यह {मरजीवा} या तो कमेन्ट है या फिर सामाजिक परिवेश की आन्तरिक मज़बूरियों के कारण कटे हुए चरित्रों के टूटन की कहानी है ।"[1]

---

1. मरजीवा – मुद्राराक्षस, पृ: 80 सं. 1974.

शासन के क्षेत्र में भ्रष्टाचार

समाजशास्त्रियों की दृष्टि में मानव जाति अब सभ्यता के विकास की चरम सीमा पर है । पर सच्चाई यह है कि विकास के साथ साथ वह जीवन की सहजता से कटता रहता है । जीवन की सहजता के स्थान पर अब औपचारिकता और कृत्रिम शिष्टाचार ही दिखाई पडती है । इनके कृत्रिम बंधनों में मनुष्य अपने को बाँधता है । फलस्वरूप उसका जीवन आकर्षणविहीन होकर वर्जनाओं से घिरा रहता है । डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल का "कर्फ्यू" नाटक जीवन की उन्हीं वर्जनाओं और विवशताओं का दस्तावेज़ है ।

नाटककार ने "कर्फ्यू" के रूपक को इस प्रकार स्पष्ट किया है - "इस नाटक का बाहरी परिवेश है एक ऐसा शहर जहाँ पर कोई "रॉयट" हो चुका है और पूरे शहर पर "कर्फ्यू" लगा दिया गया है । यह "रॉयट" और "कर्फ्यू" एक तरह से हमारे जीवन के भीतर के रॉयट और कर्फ्यू का प्रतिफलन है, बल्कि उसी का "प्रोजक्शन" है "एक्सटेंशन" है ।"[1]

"कर्फ्यू" में डॉ. लाल ने यद्यपि स्त्री-पुरुष सम्बधों को नयी दृष्टि से परखने का प्रयास तो किया ही है, पर समसामयिक समाज में व्याप्त मूल्य विघटन को भी उन्होंने उजागर किया है । (स्त्री पुरुष सम्बधों का नया दृष्टिकोण इस शोध प्रबंध के चौथे अध्याय में हमने स्थापित किया है)

शासन क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार स्पष्ट उभरता है नाटक की घटनाओं में आज हमारी शासन व्यवस्था ऐसी है जहाँ रक्षक ही भक्षक बन जाते हैं । "कर्फ्यू" की रात मनीषा गौतम के घर में आश्रय लेती है । गौतम से वादविवाद होने पर मनीषा रात में ही बाहर निकली है तो वह पुलीस के हाथ पड जाती है । नियमपालक पुलीस

---

1. कर्फ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल (लेखक की निजी डायरी से) - पृ: 9.

हाथ से मनीषा को जितनी पीडाएं सहनी पडीं, उसका विवरण वह गौतम को यों देती है - "मुझे देख कर इन्सपेक्टर ने भारी-भरकम गाली दी और जीप में बिठा लिया । अस्पताल होकर पुलोस चौकी पहुँचते पहुँचते उन्होंने मेरे सारे शरीर को बुरी तरह मथ दिया था । सारे रास्ते कई हाथ एक साथ मेरे जिस्म पर खेलते रहे और मैं मैं समाज की रक्षा करनेवाले इन जानवरों की लीला देखती रही । पुलीस चौकी पहुँचने पर पूछताछ करने केलिए एक कमरे में ले जाया गया । उन्हें मेरे जिस्म पर यह कपडे अच्छे नहीं लग रहे थे, इसलिए उन्हें उतार दिया गया । इसके बाद जो हुआ यह कहना मुश्किल है ।"[1] जिस समाज में इस प्रकार की शासन व्यवस्था है वहाँ आम आदमी की रक्षा कैसे हो सकती है । नियम पालक एक राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हैं । अगर वे ऐसा नीच कार्य करते हैं तो समाज की भलाई कैसे हो सकती है?

योअर्स फेथफुली

साठोत्तर हिन्दी नाटकों में, समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का जीता जागता चित्रण है । मुद्राराक्षस का नाटक योउर्स फेथफुली शासन व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यक्त करता है ।

आधुनिक नागरिक जीवन की विडम्बना यह है कि एक व्यक्ति के वेतन से परिवार का संचालन मुश्किल है । इसीलिए कभी कभी पति-पत्नी को घर के बाहर काम करना पडता है । नाटक की नायिका कंचन स्पा और उसका पति ऐसे दम्पति हैं ।

कंचन स्पा आर्थिक विषमता के कारण एक कम्पनी में स्टेनोग्राफर का काम करती है । उसका पति भी उसी कम्पनी में क्लार्क का काम करता है । लेकिन किसी को यह पता नहीं है कि वे दोनों पति-पत्नी हैं । उस कम्पनी में पति-पत्नी दोनों को एक साथ नौकरी देने की व्यवस्था नहीं है । दफ्तर का अफ्सर एक लम्पट व्यक्ति है । किसी कार्य के लिए कंचनस्पा को अपने कमरे में बुलाता है । कंचनस्पा

---

1. कर्फ्यू - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ: 89-90.

उसका विरोध नहीं कर सकती क्योंकि वह उसका स्टेनो है । एक दिन यह अफसर अनुशासन का भय देकर कंचनरूपा के साथ कार्यालय में ही अनैतिक यौन सम्बध करता है । पता लगाने पर आत्मग्लानि से पीडित स्टेनों का पति आत्महत्या करता है ।

आज शासन के क्षेत्र में इस प्रकार के बहुत से अत्याचार चलते हैं । बेचारी जनता सब कुछ सह लेती हैं क्यों कि उसकी नियति ऐसी है । वह इतनी बेवकूफ है कि सारा अत्याचार सहकर अपने भाग्य को कोसती रहती है । कंचनरूपा जैसी कितनी ही स्त्रियों को हम अपने इर्द-गिर्द देख सकते हैं जो आर्थिक दबाब के कारण अत्याचार सहकर जीवन बिताती है । इस आर्थिक दबाब के सम्बध में सरला गुप्ता भूपेन्द्र कहती है - "जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थ का महत्व है । यहाँ तक कि सम्बधों के नियामक के रूप में अर्थ को अपनी महत्ता है । अर्थ के इस महत्व के कारण सम्बधों से मानवीय तत्व गायब हो गया है ।"[1]

यौन भ्रष्टाचार

आज भ्रष्टाचार मात्र राजनैतिक, सामाजिक एवं शासन के क्षेत्र में नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष सम्बधों में भी छा गया है । यौन सम्बधों में व्याप्त भ्रष्टाचार आधुनिक युग की प्रमुख समस्या बन गयी है । यह अधिकतर संपन्न वर्ग में दिखाई पडता विशेषकर संपन्न वर्ग की युवा पीढी में । अब निचली श्रेणी के लोगों में भी व्याप्त हो रहा है ।

यौन सम्बधों में व्याप्त भ्रष्टाचार मुख्य रूप से मोहन राकेश के "आधे-अधूरे", लक्ष्मीनारायण लाल के "कर्फ्यू", "माद्रा कैक्टस", रमेश बक्षी के नाटक "देवयानी का कहना", सुरेन्द्रवर्मा के सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक", मुद्राराक्षस के "तेन्दुआ", "तिलचट्ठा" आदि नाटकों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित है ।

---

1. समकालीन हिन्दी नाटक चेतना के आयाम - सरला गुप्ता - भूपेन्द्र, पृ: 103.

"आधे-अधूरे" की सावित्री अपनी यौन लालसा की पूर्ति केलिए विभिन्न पुरूषों से सम्बध स्थापित करती है । उसकी प्रतिक्रिया पूरे घर में होती है । उसकी छोटी लडकी किन्नी छोटी उम्रमें भी यौन सम्बधी बात्तों में रूचि रखती है । बडी लडकी माँ के प्रेमी के साथ भाग निकलती है । लडका अशोक अभिनेत्रियों का चित्र इकट्ठा कर समय बिताता है ।

"कर्फ्यू" में डॉ. लाल ने कविता और मनीषा के द्वारा विवाहित जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यक्त किया है । कर्फ्यू की रात कविता संजय के और मनीषा गौतम के घर में पहुँच जाती हैं । कविता सुसम्य और सुसंस्कृत युक्ती है । सम्य सोसाइटी में आने जानेवाली और जीवन के नियमों के अनुसार चलनेवाली है । पति को जी जान से चाहती है । वही कविता संजय के घर केश विन्यास करते समय उस से पूछ बैठती है – स्त्री उसे कैसे लगती है?"[1] उस एकांत में वह भीतर की प्यास को रोक नहीं पाती । वह स्वयं के सामने अपने को समर्पित कर देती है । उसी प्रकार गौतम के घर में मनीषा भी करती है ।

"मादा कैक्टस" में चित्रकार अरविंद का चरित्र यौन भ्रष्टाचार का उदाहरण है । कला के नाम पर वह अपनी पतिव्रता पत्नी सुजाता का परित्याग कर आनंदा को अपनी प्रेमिका बनाता है । विवाह उसकी दृष्टि में एक पुरानी प्रथा है । नाटक में अरविंद के शब्दों को रहते हुए दद्दाजी कहता है – "वह कहता है, विवाह एक पुरानी प्रथा थी, सरासर ढकोसला । हम और आनंदा, इस से ऊपर उठकर रहेंगे, पर रहेंगे सदा संग ।"[2] उसकी करतूतों के कारण सुजाता जो अरविंद को ईश्वर के समान मानती थी, रोगी बन जाती है ।

---

1. करफ्यू – लक्ष्मीनारायण लाल, पृ: 76.
2. मादा कैक्टस – डॉ. लाल, पृ: 65.

रमेश बक्षी का नाटक "देवयानी का कहना है" युवा पीढी में व्याप्त यौन भ्रष्टाचार का सजीव चित्र उभारता है । यह नाटक परंपरागत विश्वासों पर आधात पहुँचाता है । "उसका चरित्र एक नारी की परंपरागत प्रतिमा के विपरीत के आधुनिक नारी का बिंब उभारता है ।"[1]

नाटक में देवयानी अतृप्त यौनाकांक्षिणी दिखायी पडती है । वह माँ बनना नहीं चाहती । परिवारिक बंधनों में बंधना नहीं चाहती । फिर भी दाम्पत्य सुख भोगना चाहती है । देवयानी आधुनिक युग की विद्रोहिणी नारी का प्रतिनिधित्व करती है जिसके जीवन में मूल्यों का कोई स्थान नहीं है । विवाह के सम्बध में वह कहती है - "माँ बनने को तुम लोग जो नारी की पूर्णता कहते हो न, वह शायद इसीलिए कि उस से नारी पूरी तरह फंस सकती है । फिर कोई रास्ता नहीं । किसने यह नियम बनाया है कि वह विवाह और संभोग केवल पुत्र प्राप्ति केलिए किये जाते हैं ।"[2] स्पष्ट है देवयानी विवाह को जीवन में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं समझती है । विभिन्न पुरुषों से उसका सम्बध होता है । इसीलिए ही वह साधम को भी छोडकर चली जाती है । पूरे नाटक में यौन भ्रष्टाचार का चित्रण है ।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" में शीलवती का चरित्र देवयानी से भिन्न नहीं । उसके माध्यम से नाटककार दाम्पत्य जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यक्त करता है । देवयानी की भाँति शीलवती भी कहती है - "नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, अमान्य है केवल पुरुष के संयोग के इस सुख में मातृत्व केवल एक गौण उत्पादन है ।"[3]

शीलवती अमान्य परिषद का आदेश मानकर पुत्र प्राप्ति केलिए प्रतोष के साथ शारीरिक सम्बध स्थापित करती है । अगर वह चाहती तो अमात्य परिषद के

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 453.
2. देवयानी का कहना है - रमेश बक्षी, पृ: 97-98.
3. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा, पृ: 52.

आदेश का निषेध कर सकती थी । लेकिन उसने ऐसा नहीं किया । क्योंकि शीलवती वह सुख भोगना चाहती है जो ओक्काक से अप्राप्य है । नाटक में शीलवती का चरित्र यौन विकृति को सूचित करता है । आधुनिक युग में शीलवती जैसी बहुत सी नारियों को हम देख सकते है जो यौनतृप्ति केलिए धार्मिक मूल्यों का उल्लंघन करती हैं ।

मुद्राराक्षस के नाटक "तेन्दुआ" और "तिलचट्ठा" में भी यौन भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्रण है । आधुनिक मानव बाहर से सुसंस्कृत एवं सभ्य दिखाने पर भी उसके उन्दर पाशविक वृत्ति छिपी रहती है । तेन्दुआ इस दिशा की ओर संकेत करता है मिसेस मदान और मिसेस रेणुराय दोनों यौन अतृप्ति से उत्पन्न काम विकृति के शिकार हैं ।

नाटक में मिसेस मदान यौन विकृति से पीडित होकर एक गरीब माली को "टार्चर" की नयी तकनीकों से कष्ट पहुँचाती है । जब माली वेदना से कराहता है तब मिसेस मदान आत्मतुष्टि में विलीन होकर हंसती रहती है । उसके अन्दर छिपी हुई पाशविक वृत्ति एक दम बाहर निकलती है । "तेन्दुआ वस्तुतः एक आन्तरिक प्रतीक है जो मनुष्य के पाशविक संस्कारों को ही स्थापित करता है ।"[1]

"तिलचट्ठा" में अनैतिक यौनसम्बधों का चित्रण है । देव और केशी पति-पत्नी हैं । केशी एक अस्पताल में नर्स है । अस्पताल के एक डाक्टर से वह अनैतिक यौन सम्बध रखती है । फलस्वरूप वह गर्भवती बन जाती है । देव को भी पता है कि उसकी पत्नी अस्पताल के डाक्टर से प्रेम करती है । देव से केशी के गर्भवती बनने की संभावना नहीं क्योंकि वह नपुंसक है ।

नाटक में केशी का चरित्र यौन सम्बधों में प्रकट होते भ्रष्टाचार का उत्तम उदाहरण है । आधुनिक युग में ऐसी कितनी ही स्त्रियों को हम देख सकते हैं जो पति की आँखों में धूल झोंक कर "पतिव्रता" बनकर जीवन बिताती है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 460.

उपयुक्त नाटकों का विस्तृत विवेचन इस शोध प्रबंध के चौथे अध्याय में किया गया है । इन के अलावा कुछ नाककार ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में यह प्रवृत्ति प्रकट रूप से प्रतिबिम्बित है । उन में प्रमुख है - सुरेन्द्रवर्मा "आठवाँ सर्ग" §1976§, लक्ष्मी नारायण लाल "एक सत्य हरिश्चन्द्र §1976§" और "पंच पुरूष" §1978§, दयाप्रकाश सिन्हा "कथा एक कंस की" §1976§, गिरिराज किशोर "प्रजा ही रहने दो" §1977§ , शंकर शेष "एक और द्रोणाचार्य" §1978§ आदि । विषय के अन्तर्गत न आने के कारण हम ने इस शोध प्रबन्ध में इनका विवेचन नहीं किया है । इन में डॉ. शंकरशेष का नाटक "एक और द्रोणाचार्य" समकालीन दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण इस पर विचार आवश्यक है ।

"एक और द्रोणाचार्य" आधुनिक शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को व्यक्त करता है । इसमें द्रोणाचार्य की भाँति व्यवस्था के प्रति समर्पित हो जानेवाले अध्यापक अरविंद की त्रासदी को उभारा गया है । वह व्यवस्था के हाथों की कठपुतली बनकर अपने आदर्श और ईमानदारी की बलि देता है । नाटक में आज के अध्यापक की इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए विमलेन्दु कहता है - "तू द्रोणाचार्य है । व्यवस्था और सत्ता के कीडों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य-इतिहास की धार में सड़ी की ठूठ की तरह बहता हुआ, वर्तमान के कगार से लगा हुआ - सडा गया द्रोणाचार्य । व्यवस्था के लाइट हाउस से अपनी दिशा माँगनेवाले टूटे जहाज़ सा द्रोणाचार्य ।"[1]

महाभारत का द्रोणाचार्य व्यवस्था के प्रभाव में आकर निर्दोष एकलव्य का अंगूठा गुरु दक्षिणा के रूप में माँग लेता है । उसी प्रकार निरपराध एवं ईमानदार विद्यार्थी चंद्रू को राजनैतिक विरोध में बलि का बकरा बनाया जाता है । अरविंद की पत्नी लीला उस कूपी की भूमिका निभाती है जिसने द्रोणाचार्य को व्यवस्था के प्रति समर्पित होने केलिए बाध्य किया था । नाटक में अरविंद की पत्नी कहती है - "तुम्हें यह नौकरी किस के कारण मिली? यह मकान? अस्पताल में सुविधाएं कौन दिलवा रहा

---

1. एक और द्रोणाचार्य - डॉ. शंकर शेष, पृ: 108.

दो नम्बर बढा ही देते तो कौन सा आसमान फट जाता ।"[1] आगे वह कहती है - "तुम जाकर बैठो हरिश्चन्द्र के खाली आसन पर ।"[2]

नाटक में विमलेन्दु उस व्यक्ति का प्रतीक है जो व्यवस्था से समझौता न कर पाने के कारण आत्महत्या करता है ।

आज शिक्षा के क्षेत्र में भ्रष्टाचार अधिक मात्रा में दिखाई पडता है । गुरु आज गुरु कहने योग्य नहीं हैं परिस्थितियों के दबाब के कारण वे अपना कर्तव्य भूल बैठते हैं । "जिस दिन आचार्य द्रोणाचार्य जैसे विद्वान ने व्यवस्था के हाथ में अपनी विद्वत्ता और योग्यता बेचकर प्रत्येक विसंगति से समझौता किया उसी दिन से शिक्षा क्षेत्र सदा केलिए बिक गया । आज यहाँ आदर्श और नैतिकता मात्र आडम्बर है अपनी सुविधा और पद केलिए संघर्षरत व्यक्ति एक शिक्षक के रूप में विधार्थी का दिशा निर्देश कैसे कर सकता है, वस्तुतः वह महाभारत के द्रोणाचार्य से अलग नहीं ।"[3]

आज भ्रष्टाचार सभी क्षेत्रों में छा गया है । जीवन का कोई भी क्षेत्र उस से मुक्त नहीं । राजनीति, शासन, शिक्षा, धर्म सभी क्षेत्रों में उसका विकराल रूप दर्शनीय है । आधुनिक हिन्दी नाटकों में खासकर 1950 के बाद लिखे गये नाटकों में इसके चित्रण के नये रूप उभरते हैं । अधिकांश नाटककारों ने इसका चित्रण इतिहास या पुराण के माध्यम से किया है । ऐसा चित्रण अधिक शक्तिसंपन्न दिखाई पडता है । भ्रष्टाचार दूर करने का सरकार का सारा प्रयत्न व्यर्थ होता है क्योंकि सरकार स्वयं उसमें मग्न है । जब तक मानव जिन्दा रहेगा तब तक भ्रष्टाचार भी रहेगा क्योंकि वह स्वयं अपूर्ण है ।

---

1. एक और द्रोणाचार्य डॉ. शंकर शेष, पृः 10.
2. वही ।
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक - डॉ. रीता कुमार, पृः 109.

छठा अध्याय

इतिहास-पुराण या मिथक का नया भाव-बोध

इतिहास-पुराण या मिथक का नया भाव-बोध

इतिहास-पुराण या मिथक एक राष्ट्र की अपनी बपौती है । इसमें राष्ट्र का अतीत सोया हुआ है । इतिहास-पुराण या मिथक का जीवन से घनिष्ठ सम्बध होता है । इनके मूलभूत तत्व मनुष्य के सामाजिक जीवन से उद्भूत होते हैं ।

वस्तुतः मनुष्य अनजाने ही अपने समाज और जाति की परंपराओं को आत्मसात किये रहता है । उसमें किसी समाज और जाति की स्मृतियाँ बडी गहराई से अंकित होती हैं । इन स्मृतियों के माध्यम से आधुनिक प्रसंगों का विश्लेषण अधिक सार्थक सिद्ध होता है । इसीलिए आधुनिक युग में अनेक नाटककारों और कवियों का ध्यान इतिहास-पुराण या मिथक के प्रसंगों की ओर गया है । "कवि की अपनी गहन अनुभूति जब पूर्व अनुभूतियों के प्रवाह में मिलकर एक हो जाती है तभी उसकी रचना समयोपयोगी व प्रासंगिक बनती है ।"[1]

मूलतः इतिहास-पुराण और मिथक में मौलिक अन्तर नहीं है ।[2] इतिहास सत्य पर आधारित है मिथक भी सत्य पर आधारित होता है । मिरसिया इलियद ने अपनी पुस्तक "मिथ एण्ड रियेलिटी" में मिथक के बारे में कहा है कि मिथक का अर्थ ऐसी सत्य कथा से है जो कि सब से अधिक मूल्यवान सम्पत्ति है क्योंकि सत्य होने के साथ साथ पवित्रता की भावना भी उसके साथ जुडी रहती है ।[3] मिथक की

---

1. आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव-दशरथ ओझा, पृः 159-60.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी, पृः 108.
3. "Myth means a true story and beyond that, a story that in most precious possession because it is sacred, exemplary, significant."-Myth and reality By MIRCEA ELIADE, p.1.

परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि मिथक एक पवित्र इतिहास का वर्णण है जिसमें ऐसी घटनाओं का व्यौरा रहता है जोकि वास्तव में घटी थीं । अति प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से वह वस्तुत: सृष्टि के आन्तरिक सत्यों को अपनी संपूर्णता में या खंडित रूप में अभिव्यक्ति देता है ।[1]

मिथक और इतिहास सत्य पर आधारित होने पर भी दोनों में अंतर है । "मुख्य अन्तर यही है कि मिथक जहाँ प्रामाणिकता के बन्धनों से मुक्त हो अपने अर्थसंप्रेषण में व्यापक हो उठता है वहाँ इतिहास की घटनात्मक तथ्यात्मकता उसे जकडे रहती है ।"[2] इतिहास में घटनाओं केलिए प्रधानता है । इसमें अतीत और वर्तमान को जोडने की क्षमता नहीं । लेकिन मिथक अतीत और वर्तमान के सूत्रों को जोडने में अधिक स्वातंत्र्य देता है ।

मिथक कथाएं उतनी ही प्राचीन हैं जितनी स्वयं मानवजाति । मानव जाति के आरम्भकाल में, जब मानव में सृष्टि को देखने तथा समझने की दृष्टि उत्पन्न हुई, इन कथाओं ने जन्म लेना आरंभ कर दिया था । प्रकृति के विभिन्न तत्वों - सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, पर्वत, सागर, सरिता, प्रकृति की विभिन्न घटनाओं, वर्षा मृत्यू, जय, महामारी आदि के बारे में आदिम मानव की अवधारणाओं तथा - तत्सम्बधी हर्ष, भय, विषाद, कौतूहल, आश्चर्य एवं कल्पना आदि भावों की अभिव्यक्ति मिथकों के माध्यम से हुई है ।[3] स्पष्ट है कि मिथक मानव के सम्पूर्ण बाह्य जगत तथा अन्तर्जगत को अपने में समाहित किये हुए हैं ।

---

1. "Myth narrates a secred history ; it relates an event that took place impremodial time, the labled time of the 'beginnings' in other words, myth tells law, through the deeds of supernatural beings, a reality came into existence, be it the whole of reality, the Cosmos, or only a fregment of reality".
   Myth and reality By MIRCEA ELIADE, p.5.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी, पृ: 109.
3. मिथक एक अनुशीलन - भूमिका - मालती सिंह ।

यद्यपि पुराण और मिथक दोनों मुलतः समान धर्मी हैं और कुछ विद्वान उसे एक ही मानते है (जैसा कि हमने ऊपर पुष्ट प्रमाणों के आधार पर प्रतिपादित किया) तथापि इन दोनों की विकासात्मक प्रवृत्तियों में अन्तर अवश्य लक्षित होता है ।

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिथक और इतिहास को आधार बनाकर साहित्य रचना की विस्तृत परंपरा प्राप्त होती है । हिन्दी साहित्य में इतिहास सम्बधी अथवा मिथकीय तत्व का उपयोग बहुत पहले से ही होने लगा था । लेकिन आधुनिक सन्दर्भों में इसका विश्लेषण प्रसाद के बाद ही हुआ । प्रसाद के उपरान्त जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटक "कोणार्क" में इसका सफल प्रयोग किया है । उनके अन्य नाटक "शारदीया" और "पहला राजा" में भी इतिहास और मिथक की आधुनिक प्रसंगों पर व्याख्या प्राप्त होती है । जगदीश चन्द्र माथुर के उपरान्त अनेक नाटककारों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । मोहन राकेश का "आषाढ का एक दिन", "लहरों के राजहंस" धर्मवीरभारती का "अंधा युग" लक्ष्मीनारायण लाल का "सूर्यमुख" "कलंकी", "मिस्टर अभिमन्यू" , दुष्यन्तकुमार का "एक कंठविषपाई" रमेशबक्षी का "देवयानी का कहना" आदि इसी कोटि के महत्वपूर्ण नाटक हैं ।

कोणार्क

ऐतिहासिकता को नूतन युग बोध एवं समसामयिक भावबोध प्रदान करने में जगदीश चन्द्र माथुर का विशेष स्थान है । उनका "कोणार्क" वह पहला नाट्य-प्रयोग है जो परम्परा को नये स्तर से जोडता है ।[1] इसकी रचना तब हुई जब हिन्दी नाटक नये प्रयोगों केलिए ललक रहा था । इसमें इतिहास के भीतर से आज का युग बोध प्रतिबिंबित होता है । "ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचे गये "कोणार्क" में नाटककार का ध्येय चरित्रों और घटनाओं की ऐतिहासिकता उभारना नहीं है , उनकी समसामयिकता और व्यापकता उभारना है ।"[2] ऐतिहासिक बिन्दु के विकास केलिए नाटककार ने कल्पना एवं अनुभूति का स्वच्छन्द रूप से आश्रय ग्रहण करते हुए नाटक को मार्मिकता एवं रोचकता प्रदान की है ।

---

1. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, पृ: 29.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी, पृ: 109.

लेखक ने "कोणार्क" में कुंती और सूर्य की प्रणयकथा के "मिथ" को कोणार्क मंदिर के और निर्माता के जीवन के साथ जोड़कर उसकी नयी व्यख्या देने का प्रयास किया है । कुंती ने ऋषि का वरदान जाँचने केलिए सूर्य का आह्वान किया । दोनों एक दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये और फिर दायित्व के बोझ से डरकर गर्भवती कुंती को सूर्य ने त्याग दिया । विशु ने भी उस जंगली कन्या के साथ यही किया ।

कोणार्क में विशु और धर्मपद के माध्यम से आज के मानव का संघर्ष प्रकट होता है । स्वयं नाटककार का कथन है कि ""कोणार्क" के खण्डहरों का सहारा लेकर एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे सन्तोष नहीं हुआ । मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरूष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षण फूट निकला हो । चिरन्तन मौन पौरूष ही उसका अभिशाप है । उस पौरूष को वाणी देने की मैं ने धृष्टता की है ।"[1] धर्मपद में युवापीढी के आक्रोश को वाणी मिली है । उसका विद्रोही स्वर वास्तव में युगीन है । वह कहता है - "क्या हम लोग भेड-बकरियां हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जायं । जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाँडोल कर रहे हो, वह हमारे ही कंधों पर टिका है ।"[2] तत्कालीन राजनैतिक स्थितियों के सम्बध में धर्मपद का यह कथन आज के मज़दूरों का है । एक ज़माना ऐसा था जब मज़दूरों को कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार पीडित कर सकता था । लेकिन आज वह ज़माना गुज़र गया है । आज नौकरों की माँग को कोई भी अनसुना नहीं कर सकता । उनके विचारों को मानना पडता है । एक राज्य के उत्कर्ष में उनका हाथ अवश्य है । अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने की शक्ति उनमें निहित है । नाटक में चालूक्य के अत्याचार के विरुद्ध शिल्पियों को इकट्ठा करने का धर्मपद का प्रयास इसका उदाहरण है । वह कहता है - "मगर यह भी उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही बनाते रहे ।"[3] धर्मपद का प्रगतिवादी स्वर इन शब्दों में व्यक्त है -

---

1. कोणार्क, परिचय - जगदीशचन्द्र माथुर, पृः ।।.
2. कोणार्क - माथुर, पृः 57.
3. वही - पृः 35.

"जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोडों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेनेवाले मल्लाह की, दिन भर कुल्हाडी लेकर खटनेवाले लकडहारे की ! इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य ।"[1] विशु के प्रति धर्मपद के उक्त कथन में नयी पुरानी पीढी का संघर्ष मुखर उठता है । विशु शासन के मामले में दखल देना कलाकार की अनधिकार चेष्ठा समझता है । लेकिन धर्मपद कलाकारों को उनके अधिकार दिलाने केलिए लडता है ।

नाटक में चित्रित शिल्पियों की पीडा आधुनिक मानव की है जो आततायियों के विरुद्ध खडा होने में असमर्थ है । आधुनिक युग की यह विशेषता है कि सत्ताधारी वर्ग निर्धन, निरीह मानव की पुकार का अर्थ नहीं समझ पाते । उनकी दर्दभ पुकार सत्ताधारी वर्ग को जयजयकार लगती है । इसीलिए धर्मपद ने कहा है - "देव, झुरमुट की ओट में चहकनेवाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान ही नहीं होता । आप को क्या मालूम कि उस जयजयकार के पीछे हा-हाकार चुप चाप सिसक रहा था' "[2]

कोणार्क कलाकार के माध्यम से आधुनिक भाव-बोध का विश्लेषण है । "उसे कलाकार का अन्तर्दहन की अपेक्षा अन्तर्दशन भी कहा जा सकता है किन्तु वह मूलतः दो तत्वों के समन्वय से उपजी कृति है जिसमें इतिहास और जनश्रुति, स्वप्न और सत्य, भावना और तर्क, व्यष्टि और समष्टि, अतीत और वर्तमान एकात्म हुए दीखते हैं कोणार्क अन्तर्मुखी और अर्ध्वमुखी दोनों प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि दृश्य काव्य है । वह समकालीन सर्जन पर एक दृष्टि-बिन्दु है ।"[3]

---

1. कोणार्क - माथुर, पृः 34.
2. वही - पृः 51.
3. नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, पृः 38.

पहला राजा

आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति केलिए पौराणिक ऐतिहासिक विषय वस्तु का चयन आधुनिक हिन्दी नाटक की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गया है । इतिहासों और पुराणों के प्रति एक नया आकर्षण आजकल प्रबल होती दिखाई पडती है । "कोणार्क" में नाटककार ने इतिहास की नयी व्यखया प्रदान की है । "पहला राजा" का कथ्य कोणार्क की भाँति सीधा नहीं है । इसमें मिथक के माध्यम से अनेक समस्याओं को एक साथ उठाने का प्रयास है । इसमें उठाये गये सभी प्रश्न आज के सामाजिक राजनैतिक एवं मानवीय जीवन सन्दर्भों से जुडे हैं ।

"पहला राजा" आधुनिक अन्योक्ति का मंचीय रूप है । नाटककार ने नाटक की भूमिका में इसकी ओर संकेत किया है - "तो यह नाटक न पौराणिक है, न ऐतिहासिक, न यथार्थवादी यह तो एक मार्डन एलिगोरी है - आधुनिक अन्योक्ति का मंचीय रूप है ।"[1] माथुर ने नाटक के सभी पात्रों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है । "उनके सभी पात्र पौराणिक होते हुए भी आज के किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । सूत और मागध चाटुकारों का तो शुक्र, अत्रि, गर्ग मंत्रि मण्डल का और नाटक का सब से महत्वपूर्ण पात्र पृथु भी स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री नेहरु को कहीं अपने में स्थापित करता है ।"[2] माथुर ने पृथु के सम्बध में यह संकेत दिया है - "लेकिन नाटक में पृथु कुछ और भी है । वह ,विभिन्न दुविधाओं और खिंचावों का बिन्दु है । हिमालय का पुत्र जो प्रकृति की निश्चय क्रोड में खो जाना चाहता है , आर्य युवक जो पुरुषार्थ और शौर्य का पुंज है , निषाद किन्नर एवं अन्य आर्येतर जातियों का बन्धु जो एक समीकृत संस्कृति का देखता है , दारिद्रय का शत्रु और निर्माण का नियोजक जिसे चक्रवर्ती और अवतार बनने केलिए मज़बूर किया जाता है मैं और संकेत नहीं दूँगा कि वह कौन है ।"[3] उक्त संकेतों से स्पष्ट है पृथु और कोई नहीं जवाहरलाल नेहरु ही हैं ।

---

1. पहला राजा (भूमिका) - जगदीशचन्द्र माथुर ।
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में, पृः 127.
3. पहला राजा - माथुर, पृः 117.

"पहला राजा" के पात्रों और प्रसंगों को युगबोध के साँचे में ढाला गया है । पृथु के पहला राजा बनने पर जो समस्याएँ उठती हैं उनमें नेहरु काल की समस्याओं को देखा जा सकता है । "योजनाओं की स्थापना, भारत-चीन युद्ध, मंत्रियों के आपसी द्वेष और षड्यन्त्र, घाटे का बजट या राजकोष का खाली हो जाना, देश की एकता का सवाल, पूंजीपतियों के बडे बडे घर, गुनाफ़ारवोरी, जनता का शोषण, अन्न की कमी, पिछली जातियों का मसला, संविधान की शपथ"[1] - ये सारी समस्याएं नेहरु युग की हैं और नाटक में इसकी झाँकी निरंतर रहती है ।

पृथु के अतिरिक्त शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग आदि मुनियों का चरित्रांकन भी आधुनिक भाव-बोध के अनुसार हुआ है । वे नाटक में ऋषियों के रूप में नहीं, स्वार्थी पूँजीपतियों के रूप में सामने आते हैं । पृथु के प्रथम राजा घोषित होने पर शुक्राचार्य पुरोहित मंत्री, गर्ग ज्योतिषी मंत्री तथा अत्रि मुनि अमात्य बन जाते हैं । फिर भी शुक्राचार्य चुपचाप नहीं बैठते । वह अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य से समस्त मंत्रि मंडल की शक्ति को अपने में केन्द्रित कर लेता है । वह पृथु की शक्ति एवं लोकप्रियता में बाधा पहुँचाने का प्रयास करता है । सारे नाटक में इन मुनियों की स्वार्थता का चित्रण है । "यद्यपि मुनियों को आधुनिक ठेकेदारों के समकक्ष प्रस्तुत करना उनके चरित्र की गुरुता को नष्ट कर देता है किन्तु नाटककार का उद्देश्य आधुनिक युग के मंत्रि मंडल में होनेवाले षड़यंत्रों को चित्रित करना रहा है न कि प्राचीन ऋषियों के चरित्रों को दोषपूर्ण चित्रित कर शास्त्र की मर्यादा को भंग करना ।"[2]

कवष का चरित्र आधुनिक मानव के संघर्षशील अवस्था को रखांकित करता है । कवष व्यवहारिक और कर्मशील व्यक्ति है । लेकिन ऋषि मुनि कवष को जले हुए खम्बे के समान रंग और लाल आँखोंवाला होने के कारण जंघापुत्र कहकर अपमानित करते हैं । यही तिरस्कार उसके मन में वितृषणा, व्यग्य एवं कटुता की सृष्टि करता है । आधुनिक युग में भी इस प्रकार की वर्ण व्यवस्था मौजूद है ।

---

1. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य - इंद्रनाथ मदान, पृ: 208 (1973).
2. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 357-58.

नाटक में सूता और मागध का चित्रण आज कल के चापलूसी करनेवाले व्यक्तियों के चित्र उभारते हैं । इसका संकेत भी लेखक यों देता है - "मैं ने सूत-मागध की तुलना आजकल के प्रचारक और विज्ञापन करनेवालों से की है ।"[1] आजकल शासन के क्षेत्र में ऐसे लोगों की भरमार है । जो कोई कार्य किये बिना अधिकारियों की चापलूसी करते फिरते हैं । बिना अवसर के चामलूसी करनेवाले इन लोगों को कोई रोकता भी नहीं है ।

नाटक में मुनियों द्वारा नृशंस वेन की हत्या और उसकी माता सुनीता द्वारा उसके शव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न भारत की स्वतंत्रता से पूर्व की स्थिति का प्रतीक है । विदेशी सत्ता के जनशक्ति के प्रहारों से नष्ट हो जाने के बाद भी शव रूप में उसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न जारी रहता है । जिस प्रकार वेन के देहमंथन से उसके जंघा पुत्र और मानस-पुत्र पैदा हुए, उसी प्रकार देश के शासक उसी मृत सत्ता के मानस पुत्र हैं और जनता जंघा पुत्र ।[2]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मिथक और इतिहास के साथ नाटककार की अपनी कल्पना का योग "पहला राजा" को आधुनिक भाव-बोध प्रदान करता है । इसमें जो समस्यायें उठायी गयी हैं वे निश्चय ही समसामयिक हैं ।

मिथक तथा आधुनिक भाव-बोध

इतिहास और मिथक के माध्यम से आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाले राकेश के दो महत्वपूर्ण नाट्य प्रयोग हैं "आषाढ का एक दिन" और लहरों के राजहंस । इन नाटकों में इतिहास का उपयोग परंपरागत नाटकों की भाँति अतीत

---

1. पहला राजा (पृष्ठभूमि) जगदीशचन्द्र माथुर, पृ: 115.
2. नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, पृ: 60.

गौरव, राष्ट्रीय जागृति, त्याग आदि भावनाओं की अपेक्षा आधुनिक भावबोध को व्यक्त करने केलिए किया गया है । लहरों के राजहंस की भूमिका में राकेश नाटक में इतिहास के प्रयोग के सम्बध में लिखते हैं - "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता । इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है । साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा । इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है । साहित्य इतिहास के समय से बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई कई युगों को एक साथ जोड देता है । समय की असीमता में कुछ ऐसे जुडे हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं । इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता जो अपने ही एक नये और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है । यह निर्माण रूढिगत अर्थ में इतिहास नहीं है ।"[1] स्पष्ट है कि राकेश ने अपने नाटकों में ऐतिहासिकता का नया भाव बोध प्रस्तुत किया है ।

आषाढ का एक दिन

"आषाढ का एक दिन" अपने समूचे रूप में परंपरागत नाटकों से एकदम भिन्न है । इसमें ऐतिहासिक व्यक्ति कवि कालिदास के माध्यम से आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयास है । नाटक में कालिदास का वास्तविक जीवन अज्ञात है, फिर भी उस व्यक्तित्व का आकलन किया जा सकता है । उसके जीवन की अनेक घटनाओं की अनुभूतियाँ जनमानस में घुलमिल गयी है । वें ही एक मिथकीय परिवेश उस नाम तथा उस से संम्बद्ध कल्पित घटनाओं के चारों तरफ संलग्न है राकेश ने इसी के आधार पर नाटक का प्रासाद खडा किया है । कालिदास सृजनशील शक्ति का प्रतीक है । राकेश के शब्दों में - "कालिदास मेरेलिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में

---

1. लहरों के राजहंस (भूमिका) - मोहन राकेश ।

वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने केलिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है ।"[1] अत: स्पष्ट है राकेश ने कालिदास के ज़रिए आधुनिक युग के प्रतिभा सम्पन्न कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करना चाहा ।

राकेश का कालिदास आधुनिक मानव का प्रतीक है जो अपनी अस्मिता के प्रति सचेत और अपने वातावरण के साथ समझौता न कर पाने के कारण द्विविधाग्रस्त भी है । वह अपनी बालसंगिनी मल्लिका के साथ ग्रामीण वातावरण में जी रहा था । तब उसे राजकवि का सम्मान प्राप्त होता है । कालिदास के जीवन की विसंगति यहाँ से शुरू होती है । सम्मान प्राप्त कालिदास अपने को राजकीय मुद्राओं से क्रीत समझता है । वह ग्रामीण वातावरण छोडकर उज्जयिनी जाना नहीं चाहता है । फिर भी बालसंगिनी मल्लिका की प्रेरणा से उज्जयिनी जाता है । वहाँ राजदुहिता से विवाह कर काश्मीर का शासक बन जाता है । अंत में सब कुछ त्याग कर वापस चला आता है । थका हारा मल्लिका के घर के सामने पहुँचता है । लेकिन मल्लिका के जीवन के यथार्थ से परिचित होते ही निरालंब मौन लौट जाता है ।

"आषाढ का एक दिन" का कथ्य आज के सन्दर्भों से अविच्छेद्य रूप से जुडा है । कालिदास की प्रतिभा का अपने परिवेश से उखडकर दूसरे परिवेश में जाकर सूख जाना आज के व्यक्ति और परिवेश के सम्बधों की शिथिलता को सूचित करता है । जिस प्रकार कालिदास राजाश्रय स्वीकार कर राजनीति में उलझता है उसी प्रकार आधुनिक कलाकार भी कभी कभी राजनीति में उलझकर अपनी सृजन शक्ति को नष्ट कर देता है । आज ऐसे बहुत से कलाकार को हम देख सकते हैं जो सरकारी सम्मान पाकर अपनी ईमानदारी को खतरे में डाल देते हैं । सत्ता के मोह में अपनी प्रतिभा नष्ट कर देते हैं ।

परिस्थितियों से समझौता एक कलाकार के व्यक्तित्व को तोडता है । इसके सम्बध में राकेश ने अपनी दृष्टियों व्यक्त की है - "एक साहित्यकार के जीवन की मूल समस्या है साहित्यकार के रूप में अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने की और शेष सब

---

1. लहरों के राजहंस (भूमिका) - मोहन राकेश ।

समस्याएं इस समस्या के साथ जुडी हुई हैं ... आजीविका केलिए लेखन के अतिरिक्त अन्य साधनों पर निर्भर रहनेवाले लेखक को जीवन में कई तरह के समझौते करने केलिए विवश होना पडता है और ये समझौते अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व को तोडते हैं ।"[1] राज्याश्रय स्वीकार करनेवाले कलाकार को अपने कर्तव्य से विचलित होना पडता है । "आषाढ का एक दिन" का कालिदास भी राजा द्वारा सम्मानित होने पर अपने कर्तव्य निभाने में असमर्थ हो जाता है । उसकी सृजनात्मक प्रतिभा खंडित हो जाती है ।

कालिदास की त्रासदी आधुनिक मानव की है । आधुनिक व्यक्ति सामयिक परिस्थितियों से लडते-लडते टूटे-हारे अभिशाप्त जीवन बिताने केलिए विवश है । परिस्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण उसका जीवन पतन से पतन की ओर अग्रसर हो रहा है ।

लहरों के राजहंस

"आषाढ का एक दिन" के ही समान "लहरों के राजहंस" का आधार भी ऐतिहासिक है । अश्वघोष द्वारा रचित संस्कृत काव्य "सौन्दर नन्द" के आधार पर इसकी रचना हुई है । नंद और सुन्दरी की कथा के माध्यम से आधुनिक भाव-बोध का विश्लेषण ही नाटककार का उद्देश्य है । नाटककार ने इसकी ओर संकेत भी दिया है - "यहाँ नंद और सुन्दरी कथा का एक आश्रय मात्र है । क्यों कि मुझे लगा कि इसे समय में प्रक्षोपित किया जा सकता है । नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में आषाढ का एक दिन के अन्तर्गत है ।"[2] स्पष्ट है राकेश का इतिहास से कोई खास लेना देना है । "वे केवल रूपवाद के मोह में हो, नाटक का ढाँचा खडा करने में ही ऐतिहासिक पात्रों, घटनाओं एवं उनके अनुरूप परिवेश गढने में इतिहास की इयत्ता समझते हैं ।"[3]

---

1. साहित्य और सांस्कृति दृष्टि - मोहन राकेश, पृः 21 (1975).
2. लहरों के राजहंस (भूमिका) - मोहन राकेश, पृः 9-10.
3. राकेश के नाटकों में मिथक और यथार्थ - अनुपमा शर्मा, पृः 65.

बुद्ध, यशोधरा, नंद, सुन्दरी आदि ऐतिहासिक व्यक्ति होते हुए भी उनके इर्दगिर्द मानवीय कल्पना प्रस्तुत 'मिस्टरी' इतनी प्रगाढ छाई हुई है कि उन्हें मिथकीय पात्र मानने में ही अधिक सांगत्य प्रतीत होता है । सौन्दरनंद के रचयिता अश्वघोष कालिदास पूर्व कवि हैं । नंद और सुन्दरी के इर्दगिर्द सारी घटनाएं घूमती हैं । बुद्ध का सौतेले भाई नंद पत्नी सुन्दरी के सौन्दर्याकर्षण में मुग्ध होकर जीवन बिताता है । एक दिन नंद के यहाँ भिक्षा माँगने केलिए आये बुद्ध भिक्षा न मिलने के कारण खिन्न होकर लौट जाता है । क्षमा माँगने गये नंद बुद्ध के प्रभाव में पडकर संसार त्याग कर भिक्षु संघ में शामिल होता है । फिर भी सुन्दरी के आकर्षण में घर पहुँचता है । परिस्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण लौट सदा केलिए जाता है ।

"लहरों के राजहंस" में नंद और सुन्दरी के जीवन संघर्ष के द्वारा आधुनिक मानव के संघर्ष को चित्रित करना ही नाटककार का उद्देश्य है । वे एक अर्थ में चिरंतन मानव के प्रतीक हैं जो "न ययौ न तस्थौ" की स्थिति में हैं । नाटक में नंद हमेशा संघर्षरत और निर्णय पाने में असमर्थ दीखता है । नंद केलिए सुन्दरी आकर्षण का और बुद्ध विकर्षण का केन्द्र है । इस आकर्षण विकर्षण के बीच अपने में सत्रस्त नन्द कहता है - "मैं चौराहे पर खडा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने केलिए उसके पास कोई आवरण नहीं है ।"[1] वह अपने को बेसहारा समझता है । आधुनिक मानव की स्थिति नंद से भिन्न नहीं । आधुनिक व्यक्ति भी सही निर्णय न कर पाने के कारण नंद के समान संघर्षरत दिखाई पडता है । उसकी डंवाडोल मानसिकता नाटक के नंद में विद्यमान है ।

परिस्थिति के दबाव में अनचाहा कार्य करनेवाला नंद वास्तव में आधुनिक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है । नंद के मन में अपार्थिव जिज्ञासा नहीं । पर परिस्थिति के दबाव के कारण उसे दीक्षित होना पडा । लेकिन सुन्दरी के प्रति

---

1. लहरों के राजहंस - राकेश, पृ: 149.

आकर्षण के कारण वह वापस आता है । यह वापसी उसकी नियति है । न चाहते हुए भी विवशता वश उसे जाना पडता है । आधुनिक मानव भी परिस्थितियों से कट जाने के कारण एक प्रकार का विसंगत जीवन बिता रहा है । परिस्थितियों से वशीभूत होकर उसे ऐसा कार्य करना पडता है जो वह कभी भी न करना चाहता है ।

नाटक में सुन्दरी उस अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो सौन्दर्य वर्द्धक चीज़ों में मग्न होकर पति ने वशीभूत करके भोग विलास में लीन रहना चाहती है । अपने पति को किसी से प्रभावित होना वह सहन न कर सकती । "जान अब नहीं गई हूँ, सदा से जानती रही हूँ जानती रही हूँ कि जितने साधारण और लोग हैं, उतने ही साधारण आप भी हैं कि जिस आसानी से सब प्रभावित हो सकते हैं, उतनी ही आसानी से आप भी हो सकते हैं । अन्तर केवल इतना है कि लोग कभी एक बार प्रभावित होते हैं, आप बार-बार प्रभावित हो सकते हैं, जिस किसी से प्रभावित हो सकते हैं ।"[1]

"लहरों के राजहंस" में उलझनों में उलझते श्यामांग की स्थिति वास्तव में आधुनिक मानव की है । अंधकूप में रहा श्यामांग एक बार रोशनी के लिए पुकारता है । आलोचकों ने इसमें नंद की संघषरत मानसिकता पायी है । लेकिन हमारी दृष्टि में श्यामांग की अवस्था उसल में विद्यमान आधुनिक व्यक्ति की है जो हमेशा प्रश्नों के बीच में सघरषरत होकर जीवन बिताता है । अपने चारों ओर उसे अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पडता है । प्रकाश की रेखा कहीं भी नहीं दिखाई पडती है ।

निष्कर्षत: यह कर सकते हैं कि "लहरों के राजहंस" में आधुनिक मानव की नियति की खोज है ।"[2] इसके द्वारा यह संकेत मिलता है कि आधुनिक मानव कभी शाँन्ति नहीं पा सकता । अपनी मृत्यु तक वह अनिश्चित और बेसहारा जीवन बिताने

---

1. लहरों के राजहंस - राकेश, पृ: 125-126.
2. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य - डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ: 169.

केलिए अभिशाप्त है । नंद की वापसी में आधुनिक मानव की द्विविधा निहित है । द्विविधा का यह रूप समकालीन जीवन में इस प्रकार व्याप्त है कि चाहकर भी वह उस से मुक्त नहीं हो सकता । इसीलिए गोविन्द चातक यह विचार व्यक्त करता है - "दार्शनिकता से परिपूर्ण यह नाटक आधुनिक भाव-बोध को भी पूरी सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त करता है जब तक नन्द के द्वन्द्व का निदान नहीं होता, तब तक "लहरों के राजहंस" श्रेष्ठ नाटक माना जायेगा ।"[1]

सूर्यमुख

इतिहास-पुराण के माध्यम से आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है । इस दिशा में डॉ. लाल का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उनका नाटक "सूर्यमुख" मिथक पर आधारित है । इसकी कथा महाभारत के अन्तिम चरण से सम्बधित है । महाभारत कालीन पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से यह आधुनिक भाव-बोध प्रस्तुत करता है । "इसमें प्राचीन पात्रों के ज़रिए आज के व्यक्ति की मनोग्रंथियों, कुण्ठाओं तथा दुर्बलताओं को पकडने की कोशिश है ।"[2]

"सूर्यमुख" में सभी पौराणिक पात्रों को आधुनिक व्यक्तियों के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है । नाटक की कथा के अनुसार उग्रसेन की मृत्यु के साथ ही सत्ता केलिए किये गये युद्ध में प्रद्युम्न की जीत होती है । वेनुरती अर्जुन के साथ हस्तिनापुर चली जाती है । प्रद्युम्न वेनुरती के वियोग में पागल सा हो जाता है । अपने प्रेम-पात्र को प्राप्त करने केलिए बाह्य और स्थूल संघर्ष के साथ-साथ वेनु और प्रद्युम्न को आन्तरिक रूप से लज्जा और संशय का संघर्ष भी झेलना पडता है । वेनु के भीतर लज्जा का सर्प कुंडली मारे बैठा है जो हर समय विषदंश करता रहता है । वह प्रद्युम्न के

---

1. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - गोविन्द चातक, पृ: 81.
2. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - रमेश गौतम, पृ: 101.

परिरंभण से काँप उठती है । लेकिन मिलन की स्थिति दोनों को भयभीत किये रहती है । वस्तुतः उनका विश्वास ही उन्हें सन्देह ग्रस्त करता है । वेनुरती को अपने विपरीत एवं निषिद्ध सम्बधों की बात बार बार काँटे की तरह चुभती रहती है । उसकी पीडा इन शब्दों में व्यक्त है - "फिर नया जन्म होता है, पर समाज हमारे जन्म से पहले ही हमारे सहज को विपरीत सम्बधों के कारागार में बंदी कर देता है ।"[1] प्रद्युम्न को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई उसके परस्पर मिलन का मार्ग अवरुद्ध किये खडा है । वह कहता है - "मेरे भुज पाश अंक में लिपटे हुए संशय इन अस्त्रों से ढंक जायेंगे, पर जो मेरे गहन अंतस में बैठे हैं वे छाया चित्रों की तरह उभरकर मेरे सामने आयेंगे, उन्हें कौन अस्त्र काटेगा? जहाँ शत्रु अदृश्य है, वे युद्ध इन अस्त्रों से किस प्रकार लडे जायेंगे? जो अस्त्र मुझे हर क्षण बाँधते जा रहे हैं, लगता है यही मेरी विजय में पराजय के साक्षी होंगे ।"[2] फिर भी प्रद्युंन में यह दृढ विश्वास है कि वह इन अन्तर्विरोधों के मध्य से वेनुरती को प्राप्त कर सकता है ।

"सूर्यमुख" में पौराणिक पात्रों के माध्यम से समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति करना ही नाटककार का उद्देश्य है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रद्युम्न आज का तार्किक मानव है । वेनुरती केलिए प्रद्युम्न का संघर्ष आधुनिक मानव का है । प्रद्युम्न का संशय, पलायन मात्र उसका नहीं आधुनिक व्यक्ति का भी है । प्रद्युम्न और वेनुरती आधुनिक जीवन की विसंगति के अनुरूप ही सहज मानवीय प्रेम के दंडित एवं निर्वासित होते हैं । वेनुरती यदि महल में रह कर दंड भोगती है तो प्रद्युम्न नागकुंड की पहाडियों में आत्मनिर्वासित होकर । वस्तुतः यातना को झेलना आज के मानव की नियति है ।

वेनुरती में आज की खुली विद्रोही नारी दृष्टिगत होती है जो भावना की निर्दोषता में विश्वास रखती है ।[3] नाटक के अन्य पात्रों - अर्जुन,

---

1. सूर्यमुख - लक्ष्मीनारायण लाल - पृः 35.
2. वही - पृः 114-115.
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषमा बेदी, पृः 184.

रुक्मिणी, जरा, साम्ब, वभ्रु आदि के चरित्र में पात्रों के परंपरागत आदर्श रूप की अपेक्षा मानवीय जीवन ही अपनी असंगतियों की अधिकतम संभावनाओं के साथ चित्रित हुआ है ।[1] यद्धोत्तर कालीन द्वारिका में न कृष्ण है, न बलराम और न ही महाभारतकाल के महायोद्धा और कृष्ण हैं । उसके स्थान पर अब केवल विद्रोही युवा पीढी है जो कृष्ण के हत्यारे ज़रा को अपनी शक्ति का लक्ष्य बनाती है । वभ्रु और साम्ब आधुनिक युवा पीढी के सशक्त प्रतीक हैं ।

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने सूर्यमुख में आधुनिक शासन व्यवस्था का संकेत दिया है । नाटक में कृष्ण की मृत्यु धर्म की मृत्यु है । आज की शासन रीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है । अगर कोई व्यक्ति धर्म केलिए खड़ा रहता है तो कृष्ण के समान उसकी मृत्यु निश्चित है । वभ्रु और साम्ब में उन स्वार्थी व्यक्तियों का चित्र उभर कर सामने आता है जो अन्याय के मार्ग को अपनाकर गद्दी पर बैठते हैं । आधुनिक भावबोध के इस नाटक में प्रजातंत्र के खोखलेपन पर भी व्यग्य किया गया है । नाटक का प्रत्येक प्रसंग आज के युग और समाज की विसंगति को उजागर करता है ।

कलंकी

डॉ. लाल ने "कलंकी" में तात्रिक साधना के प्रतीकों द्वारा आज के युग की राजनैतिक गतिविधियों का विश्लेषण किया है । "कलंकी" हमें इस वास्तविकता से अवगत करवाता है कि हर युग के शासक को अपनी निरंकुश सत्ता चलाने केलिए किसी न किसी गलत तंत्र को सहायता अवश्य लेनी पडती है अतः यह नाटक मध्य युगीन होकर भी आधुनिक भाव-बोध का नाटक है ।[2]

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृः 367.
2. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृः 187.

नाटक का अकुलक्षेप एक निरंकुश सामन्त है । धर्म की आड़ में उसने निरंकुश शासन का मूल मंत्र प्राप्त किया है । उसका पुत्र हेरूप जब उसके सामने असद्-सद् का प्रश्न उठाता है तो उसे विहार में शिक्षा प्राप्त करने केलिए भेज देता है । इधर स्वयं हुणों के आक्रमण से आतंकित कायर अकुलक्षेप शत्रु का प्रतिरोध लेने के बदले कहीं किसी पर्वत पर जाकर आत्महत्या कर लेता है । उसकी अनुपस्थिति में तांत्रिक कल्कि अवतार की भविष्य वाणी का बहकावा देकर प्रजा के शोषण की प्रक्रिया को उसी प्रकार जारी रखता है । हेरूप विहार से वापस लौट आता है और प्रजा को सही चेतना को अपनाने एवं मानव मात्र की समानता की भावना को जगाने की कोशिश करता है । अवधूत तांत्रिक की चाल से हे रूप की हत्या करता है । लेकिन जनता में हे रूप की चेतना का निवास हो चुका है । इस प्रकार अवधूत की सारी चालाकी निरावृत होकर सामने आती है ।

मिथक पर आधारित होने पर भी नाटक पूरे तौर पर आधुनिक है । आज के युग में भी शासक जनता को प्रश्नहीन बनाने केलिए उन्हें सुखमय भविष्य का वादा देता है । शीघ्र ही कल्कि अवतार होगा और सभी दुःखों का निवारण होगा तथा सत्युग का फिर से अगमन होगा आदि बातों से पहले साधारण जनता को प्रश्नहीन बनाया जाता था, वही काम आज राजनीति का हो गया है । आज की राजनीति पॉर्टियों के लोग जनता से कहते हैं कि आप हमें वोट दें ताकि हमें आपकी सेवा करने का अच्छा अवसर मिल जाय । और आपके सारे दुःख और चिन्ताएँ हम दूर करेंगे । नाटक के द्वारा डॉ. लाल "यह व्यंजित करना चाहते हैं कि प्रजातंत्र और मतगणना के नाम पर वही शव साधना तो आज भी की जा रही है जो कलंकी अवतार के नाम पर धर्म द्वारा मध्ययुग से की जाती रही ।"[1]

नाटक के सभी पात्र वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं । अकुलक्षेम आधुनिक निरंकुश समन्ती परंपरा का वाहक है । कृषक अबोध प्रजा के प्रतिनिधि हैं । हे रूप तथा तारा का स्वर जनवादी विद्रोही स्वर है । हर एक पात्र आधुनिक भाव-बोध से पुष्ट है

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक - नरनारायण राय, 1979, पृः 79.

अब तक का भारतीय इतिहास बताता है कि हर युग में लोग अपने ढंग से किसी न किसी कलंकी की प्रतीक्षा करते रहे हैं । हर शासक, नियंता और अधिपति को अपने अस्तित्व केलिए किसी एक ऐसे ही मिथक का सहारा लेना पडता है । इतना ही नहीं अपनी स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने के उपक्रम में अबोध जनता को प्रश्नहीन करने का उसका प्रयास भी चिरकाल से है ।[1]

मिस्टर अभिमन्यु

आधुनिक हिन्दी नाटकों में मिथक का प्रयोग दो तरह से हुआ है । "अंधायुग", "आषाढ का एक दिन", "लहरों के राजहंस", "कोणार्क", "सूर्यमुख", "कलंकी", "पहला राजा" आदि नाटकों में आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति मिथकीय पात्र, घटना और नाट्य स्थितियों के माध्यम से हुई है । लेकिन सुरेन्द्रवर्मा के "द्रौपदी" और लाल के मिस्टर अभिमन्यु" में पात्र तो समसामयिक जीवन से उठाये गये हैं ।

मिस्टर अभिमन्यु में लाल ने युग की राजनीति और व्यवस्था के माध्यम से एक ऐसे आधुनिक चक्रव्यूह का चित्रण किया है जिसमें कलक्टर राजन बंदी हो जाता है । अभिमन्यु और मिस्टर अभिमन्यु में अन्तर है । नाटककार के शब्दों में - "अभिमन्यु सचमुच ही बाहर निकलना चाहता था जिसकेलिए उसने सच्ची लडाई लडी थी और वह मारा गया था, लेकिन मिस्टर अभिमन्यु बाहर निकलना नहीं चाहता - उसे केवल भ्रान्ति है कि वह बाहर निकलना चाहता है । इस भ्रान्ति को बनाये रखने केलिए वह एक लडाई लडता है, जो झूठी नहीं, सच्ची लडाई - अन्तर केवल इतना ही है कि वह एक अनिर्णय में पडे व्यक्ति की लडाई है, उस व्यक्ति की नहीं जो निर्णय ले चुका हो । अभिमन्यु की पराजय में ही उसकी जीत निहित थी । मिस्टर अभिमन्यु को हार केवल हार ।"[2]

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम - डॉ. लक्ष्मीराय, पृ: 405.
2. मिस्टर अभिमन्यु (भूमिका) लक्ष्मीनारायण लाल ।

"मिस्टर अभिमन्यु" के ज़रिए नाटककार ने आधुनिक सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है । कलक्टर राजन ईमानदारी के साथ अपना कर्तव्य निभाना चाहता है । लेकिन पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक दबाव के कारण अपने कर्तव्य पायन में वह असमर्थ हो जाता है । उसका पिता एक मध्यवर्गीय व्यक्ति है । उसकी पत्नी विमल भौतिक सुखों एवं सामाजिक सम्मान में गर्व अनुभव करनेवाली मध्यवर्गीय औरत है । गायादत्त भ्रष्ट राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करता है । केज़रीवाल पूँजीपति है । इन सब के बीच राजन कर्तव्य निभाना चाहता है । प्रयास करने पर भी वह असफल सिद्ध होता है । "व्यक्ति की दयानतदारी भ्रष्ट व्यवस्था और स्वार्थी शासन-तंत्र के दबाव में छटपटाती है । वह कई बाहरी गलत दबाव के कारण अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना के अनुरूप अपना जीवन बिता नहीं सकता ।"[1]

आज भारत की सामाजिक व्यवस्था एक ऐसे चक्रव्यूह का रूप धारण कर चुकी है, जिस से बाहर निकलना किसी आदर्श व्यक्ति केलिए आसान नहीं रह गया है । "चक्रव्यूह में फंसे होने के कारण उसकी साँस घुट रही है । मृत्यु दोनों ही रास्तों में चाहे चक्रव्यूह को अंगीकार कर लिया जाय अथवा उससे बाहर निकलने का संघर्ष किया जाय ।"[2] स्पष्ट है, व्यवस्था के चक्रव्यूह से बचने केलिए आधुनिक कर्तव्य परायण व्यक्ति असमर्थ रह जाता है । नाटक में मिस्टर राजन की जो समस्याएं हैं वह आज की हैं, किसी और देशकाल की वह नहीं हो सकतीं । राजन जिस चक्रव्यूह में घिरा है वह भी आज का चक्रव्यूह है । "उसकी त्रासदी बिलकुल आज की त्रासदी है । उसके सवाल बिलकुल आज के सवाल है । उसकी मृत्यु आज की मृत्यु है । उसका चक्रव्यूह बिलकुल आज का चक्रव्यूह है ।"[3]

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा, पृ: 202.
2. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय, पृ: 88.
3. मिस्टर अभिमन्यु (भूमिका) - डॉ. लाल ।

डॉ॰ लाल के अन्य प्रमुख नाटक "नरसिंह कथा", "उत्तर युद्ध", "यक्ष प्रश्न" आदि भी मिथकीय प्रसंगों पर आधारित हैं । नरसिंह कथा का हिरण्यकशिपु मात्र पौराणिक पात्र न होकर आज की निरंकुश शासन-सत्ता का प्रतीक है । "उत्तर युद्ध" में व्यक्ति की निसंगता, निरपेक्षता का चित्रण है । "यक्ष प्रश्न" भी महाभारत प्रसंग पर आधारित है । नाटक कार ने इस में अपनी ही प्यास से पीडित नकुल, सहदेव, भीम, अर्जुन आदि पात्रों को प्रश्नों से पलायन करते चित्रित किया है । इन तीनों नाटकों के पात्र पौराणिक या मिथकीय होने पर भी समसामयिक प्रतीत होते हैं । इन पात्रों को नया भाव-बोध प्रदान करने में नाटककार सफल हुए हैं ।

निष्कर्ष यह है कि इतिहास पुराण और मिथकीय प्रसंगों के ज़रिए समसामयिक जीवन की झाँकी प्रदान करने में डॉ॰ लाल को पूरी सफलता मिली है ।

अंधायुग (1954)

"अंधायुग" की कथा महाभारत से ली गयी है । कथा का प्रारंभ महाभारत युद्ध के अठारहवें दिन की संध्या से होता है और वह कुरुक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु तक चलती है । कवि ने इस कृति में पौराणिक पात्रों के माध्यम से आज के विसंगतिपूर्ण जीवन का चित्रण किया है । "इसके अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक, प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं ।"[1]

अंधायुग के पात्र पौराणिक होते हुए भी आधुनिक है । आधुनिक जीवन का प्रकट सत्य दिखाने केलिए भारती ने इसमें कुछ नये पात्रों और वस्तुओं को नवीन उद्भावनाओं से अलंकृत किया ।[2] उन्होंने इतिहास पर वर्तमान को कहीं भी

---

1. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - रमेश गौतम, पृ: 87.
2. अंधायुग की रचना मानसिकता - सुरेश, वीणा गौतम, पृ: 46.

भार न बनाकर इतिहास को वर्तमान के अनुकूल बना दिया है । कवि कृति के आरंभ में ही युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों एवं आधुनिक युग बोध की व्यतिरिक्तता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है -

"युद्धोपरान्त ,
यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएं सब विकृत हैं

यह कथा उन्हीं अंधों की है
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से ।"[1]

यह है युद्धोत्तर कालीन वातावरण । मर्यादा की पतली और क्षीण डोरी में कौरवों और पाँडवों के पक्ष ही नहीं उलझे, आधुनिक युग के आस्थावान और आस्थाहीन, नीतिकुशल और नीतिहीन व्यक्तियों का जीवन भी उलझा है ।

"अंधायुग" की कथा जहाँ एक ओर महाभारत कालीन सत्य को उद्घाटित करती है वहीं दूसरी ओर आधुनिक भाव-बोध को व्यंजित करती है । इसमें श्रीकृष्ण को नयी दृष्टि से परखा गया है । श्रीकृष्ण अब तक परब्रह्म के रूप में चित्रित होते आये हैं । संरक्षक कृष्ण को "अंधायुग" में एक नयी भूमिका मिली है । "अंधायुग का कृष्ण केवल प्रभु अथवा परब्रह्म ही नहीं, बल्कि देवत्व एवं दानवत्व की संधि-रेखा पर खडे वह आधुनिक जटिल मनुष्य भी हैं जो परिस्थितियों से प्रेरित होकर सत्य की रक्षा करते हैं तो सत्य का त्याग भी, मर्यादा का वहन करते हैं तो अमर्यादा का ग्रहण भी ।" स्पष्ट है, पाप-पुण्य, मर्यादा और अमर्यादा, सत्य और असत्य की निर्णायक परिस्थिति ही हैं ।

---

1. अंधायुग - धर्मवीर भारती, पृः ।0.
2. अंधायुग की रचना मानसिकता - डॉ. सुरेश, वीणा गौतम, पृः 48-49.

इस काव्य-नाटक के युयुत्सु में भी आधुनिक मानव का रूप उभरता है । महाभारत युद्ध में युयुत्सु धर्म का पक्ष लेकर पाँडवों की ओर से युद्ध करता है किन्तु युद्ध के बाद न पाँडव उसे अपना समझते हैं न कौरव । निराशा ग्रसित युयुत्सु आत्महत्य करता है । सत्य एवं धर्म केलिए खडे रहनेवाले आधुनिक व्यक्ति की स्थिति युयुत्सु से भिन्न नहीं ।

महाभारत युद्ध की भीषणता दिखाकर आधुनिक मानव को सचेत करना ही भारती का उद्देश्य है न कि पौराणिक पात्रों को कलंकित करना । "युद्ध के उद्देश्य जितने भी महान हों, युद्ध सभी को - चाहे वे कितने ही सत्यवादी, आदर्शवादी अथवा मर्यादावादी क्यों न हों - पशु बनने केलिए विवश कर देता है ।"[1] युद्ध में मानवता की विजय कभी नहीं होती । आज के युग में भी व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक धृतराष्ट्रों की कमी नहीं ।

"अंधायुग" के अश्वत्थामा केवल पौराणिक पात्र नहीं, आधुनिक मानव का प्रतिनिधि है । अश्वत्थामा के भीतर जो भी सत्य था, सुन्दर था, शिव था, सब को युद्ध की बर्बरता ने विनष्ट कर दिया । युद्ध की विभीषिका से वह इतना प्रतापित हो जाता है कि अन्त में वह पश्चाताप प्रकट करता है । उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की है जो निरन्तर युद्ध की चिन्ता में मग्न रहता है । अश्वत्थामा मर नहीं सकता क्योंकि निरन्तर पीडा उसकी नियति है । दारूण यातना झेलने केलिए वह अभिशप्त है । आधुनिक मानव की स्थिति इस से भिन्न नहीं ।

"अंधायुग" के प्रहरी भी समसामयिक जीवन की विसंगति के ज्वलन्त उदाहरण हैं । प्रहरी का काम करने पर भी वे अधिकारों से वंचित हैं । शून्य गलियारे में दायें से बायें और बायें से दायें चलना ही उनकी नियति है । उच्च ओहदे पर रहनेवाले आधुनिक व्यक्ति इन प्रहरियों के समान अपने अधिकारों से वंचित हैं । कर्तव्य परायण होने पर भी कर्तव्य निभाने में वे असर्थ हो जाते हैं क्योंकि आज की परिस्थितियाँ ऐसी हैं ।

---

1. अंधायुग की रचना मानसिकता, पृ: 55.

इससे सिद्ध है कि "अंधायुग" "अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा है ।"[1] तृतीय विश्वयुद्ध की त्रासदायक स्थितियों और द्वन्द्वों के मध्य चल रहे वर्तमान युग को ज्योति और विश्वास देने का प्रयास है ।

एक कंठ विषपायी (1963)

दुष्यन्त कुमार का एक "कंठविषपाई" मिथक पर आधरित काव्य-नाटक है । इसका मिथक शिव और सती की कथा से जुडा है । दक्ष द्वारा यज्ञ में शंकर को आमंत्रित न करने पर सती का यज्ञ में पहुँच जाना पति की सम्मान-रक्षा केलिए आत्म-दाह कर लेना, उसके बाद क्रोधित शिव के गणों द्वारा यज्ञ का विध्वंस और शिव का सती के शव को कंधे पर उठाये घूमना इस नाटक के मिथकीय सूत्र हैं ।"[2]

"एक कंठविषपाई" में प्रस्तुत कथा के माध्यम से नाटककार ने जर्जर रूढियों और परंपराओं से चिपटे रहनेवाले आधुनिक लोगों का चित्रण किया है । साथ ही साथ नवीन और प्राचीन मान्यताओं का द्वन्द्व भी चित्रित किया है ।

"अंधायुग" की भाँति यह काव्य-नाटक भी समसामयिक हैं । इसमें जो समस्यायें उठायी गयी हैं वे निश्चय ही आधुनिक हैं । इस रचना में पीढी संघर्ष और निम्न वर्ग एवं अभिजात वर्ग का संघर्ष दर्शनीय है । हर नयी पीढी पुरानी पीढी की मान्यताओं और विचारों के प्रति विद्रोह करती आयी है । पुराने मूल्यों को समाप्त होते देख पिछली पीढी नवीन मूल्यों पर व्यग्य के प्रहार करने लगती है । लेकिन धीरे धीरे उसे नये विचारों को अपना लेना पडता है । वे या तो स्वयं मर-मिटने हैं या नये विचारों को अपनाकर नई मान्यताओं का कालकूट पीकर विषपाई बन जाते हैं -

---

1. "या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से" - अंधायुग-धर्मवीर भारती, पृ: 10.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 215.

"हर परम्परा मरने पर थोडे दिन तक
सारा वातावरण शून्यसे भर जाता है,

लेकिन इसके बावजूद फिर
थोडे दिन पश्चात शून्य की उसी भूमि पर,
कोई नया रूप धर
नन्हा अंकुर उभर आता है,
जो कि अन्ततः
हर उपेक्षा पर अपना विकास पाता है ।"[1]

आधुनिक युग में युद्ध लिप्सा में मग्न लोगों को प्रस्तुत काव्य नाटक के जरिए दुष्यन्त कुमार यह चेतावनी देना चाहते हैं कि युद्ध ही केवल किसी समस्या का समाधान नहीं है । तृतीय दृश्य में जब शिव द्वारा विध्वंस किये जाने पर इन्द्र, वरुण, कुबेर, सम्मिलित होकर शिव के साथ युद्ध करने का निश्चय करते हैं तो ब्रह्मा उनका साथ नहीं देते । इन्द्र जब रक्षा के नाम पर युद्ध की आज्ञा चाहते हैं तो ब्रह्मा उसे समझाते हैं -

"तो मैं अपने मुंह से
सेना को आदेश नहीं दे सकता ।
मैं पहले ही बता चुका हूँ
यह सामूहिक आत्मघात है ।
इसके पीछे कोई जीवन दृष्टि नहीं,
केवल आग्रह है ।"[2]

---

1. एक कंठ विषपाई - दुष्यन्त कुमार, पृः 119-120.
2. वही - पृः 105.

ब्रह्मा का विचार यह है कि युद्ध चाहनेवाले वास्तव में अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं । युद्ध के पीछे कोई मानवतावादी दृष्टि नहीं । केवल कुछ स्वार्थी लोगों की इच्छा की पूर्ति है ।

प्रस्तुत रचना में शिव साधारण लोगों का प्रतीक है । वह उपेक्षित जन का प्रतिनिधित्व करता है । उसे बहुत से कष्टों को झेलना पडता है । वह आर्थिक संपन्नता चाहता है साथ ही साथ प्रेमपूर्ण जीवन बिताना चाहता है पर उसे पीना पडता है सामाजिक विषमता का विष । आर्य मंडल के देवता उन सत्ताधारियों के प्रतीक है जो निम्न वर्ग के शोषण की ताक में हैं ।

शिव का सती से विवाह उस मानवीय भावना को मूर्त रूप प्रदान करने की चेष्टा थी, जिसके अनुसार प्रेम कोई बंधन नहीं स्वीकारता । सामाजिक अवहेलना झेलकर प्रेम विवाह करनेवाले शिव पहले व्यक्ति थे । उनका प्रेम मानवता के विद्रोह का रूपक था ।[1]

दुष्यन्त कुमार ने "एक कंठ विषपाई" में दक्ष को एक जन विरोधी शासक के रूप में चित्रित किया है । वीरिणी के बार बार समझाने पर भी दक्ष दंभवश अपने निर्णयों पर अडिग रहा । उसके निर्णय शिव तथा तत्कालीन शोषित उपेक्षित जन के विरुद्ध थे । कवि-नाटककार ने "सर्वहत" नामक काल्पनिक पात्र को युद्ध के आतंक में जी रही आधुनिक प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है । वह असंगठित और कमज़ोर वर्ग का प्रतिनिधि है । सर्वहत युद्ध से अलग है, द्वन्द्व से अलग है, किन्तु युद्धोपरान्त उत्पन्न विकृतियों में उसे हिस्सा लेना पडता है । दो महायुद्धों से पीडित आधुनिक साधारण मानव की नियति सर्व हत से भिन्न नहीं ।

"एक कंठ विषपाई" वस्तुतः मिथकीय कथा का नया भावबोध प्रस्तुत करता है । आधुनिक युगकी युद्धजन्य पीडा से त्रस्त साधारण जनता की दर्द भरी कहानी प्रस्तुत रचना में आदि से अन्त तक झलकती है ।

---

1. मिथक और आधुनिक कविता - शम्भुनाथ, पृः 210.

द्रौपदी (1972)

नाट्य प्रयोग की दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के नाटक द्रौपदी का साठोत्तर हिन्दी नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान है । "इसमें नाटककार ने पुराने मिथक को नया सन्दर्भ देते हुए आधुनिक जीवन में भौतिक प्रतिमानों का निरन्तर दबाव, अंधे संघर्ष की आपाधापी, युवा वर्ग की स्वच्छन्दता, परिवार का उत्तरोत्तर विघटन तथा मुख्य रूप से पुरुष के विभिन्न रूपों का सामना करनेवाली आधुनिक नारी (द्रौपदी) की जटिल स्थिति का अंकन किया है ।"[1]

"द्रौपदी" में एक ही व्यक्ति के विभाजित व्यक्तित्व का अंकन है जो दफ्तर में अलग है, घर में अलग, पत्नी के सामने और कुछ, प्रेमिका के समक्ष दूसरा । अपने व्यक्तित्व के अलग अलग रूपों में बंटे होने के कारण वह अपनी पत्नी केलिए द्रौपदी नाम सार्थक कर देता है । मन मोहन की पत्नी का/सुरेखा से द्रौपदी हो जाना दोनों के जीवन की विसंगति को रखांकित करता है । पति बंट गया है लेकिन सुरेखा उसमें अपने उसी मनमोहन को खोजती है । लेकिन उसका सामना होता है उस पीले नकाबवाले से जो दफ्तर में आंकडों में मसरूफ है, जो सुरेखा का पहचाना "प्रेमी" और "पति" नहीं बल्कि प्रमोशन के चक्कर, कार के लाइसेंस, बैंक की पास बुक, लॉकर की याबी, बीमें की पॉलिसी और मकान के कागज़ों में उलझा कोई काले नकाबवाला है या अंजना, रंजना, वन्दना में शरीर सुख की ताज़गी खोजनेवाले वाला लाल नकाबवाला है या फिर अपने ही भीतर का सामना करता हुआ सफेद नकाबवाला है ।[2] किन्तु सुरेखा से यह मनमोहन पूरी तरह कट चुका है ।

नाटक में मनमोहन उस आधुनिक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो भौतिक सुखों की तेंज़ दौड में कर्तव्य भूल जाता है । वह भीतर ही भीतर टूट जाता है । न घर में उसे शाँति और सुख प्राप्त होता है न बाहर । इस प्रकार

---

1. हिन्दी के प्रतीक नाटक - डॉ. रमेश गौतम, 1979, पृ: 243.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - सुषम बेदी पृ: 200.

पति का विखडित व्यक्तित्व सुरेखा को द्रौपदी बनने केलिए विवश करता है । "अपने व्यापक अर्थों में यह मिथक टूटते पारिवारिक सम्बधों, सभ्यता की दौड में खंडित मानव, व्यक्तिगत सुख की खोज में भटकती नयी पीढी, सभी को अपने भीतर समेट लेता है और आज के मानव की विडंबना का सार्थक व्यौरा देता है ।"[1]

सुरेन्द्र वर्मा ने समकालीन पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित परिवार के खोखलेपन, संस्कारविहीन जीवन तथा चारित्रिक पतन को चित्रित किया है । मनमोहन के विखंडित रूपों का प्रतिबिंब उसके दो बच्चों (अलका, अनिल) के जीवन में पूर्णतः लक्षित होता है । अलका और राजेश अनिल और वर्मा दिशा हीन विश्वविद्यालयीय युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो यौन कुठाओं से ग्रस्त हैं । अलका का स्वेच्छाचारी व्यवहार माता-पिता के ही आचरणों की परिणति है ।

द्रौपदी के द्वारा सुरेन्द्रवर्मा ने समाज की उस विकृति को साकारता प्रदान की है जो पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण से हमारे समाज को दूषित कर रही है । नाटक में आधुनिक युग के मानव का खंडित व्यक्तित्व, टूटते हुए पारिवारिक जीवन आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है ।

सुरेन्द्र वर्मा का दूसरा नाटक "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" में भी ओवकाक और शीलवती के माध्यम से आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बधों की विसंगति का चित्रण है । इसका विस्तुत विश्लेषण इस शोधप्रबंध के चौथे अध्याय में किया गया है ।

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - सुषमा बेदी, पृः 201.

जाहिर है कि इतिहास पुराण का नया भावबोध आधुनिक हिन्दी नाटक की एक सशक्त प्रवृत्ति है । इस दिशा में माथुर, राकेश, लाल, धर्मवीर भारती, सुरेन्द्र वर्मा, दुष्यन्त कुमार आदि नाटककारों का विशेष योगदान अवश्य रहा है । चर्चित नाटककारों की रचनाओं में इतिहास-पुराण या मिथक के माध्यम से जो समस्याएं उठायी गयी हैं वे निश्चय ही सम सामयिक हैं । "कोणार्क", "पहला राजा", "आषाढ का एक दिन", "लहरों के राजहंस", "सूर्यमुख", "कलंकी", मिस्टर अभिमन्यु, अंधायुग, एक कंठविषपाई, द्रौपदी आदि इस कोटि के समर्थ नाटक हैं ।

सातवाँ अध्याय

रंगमंच

रंगमंच

नाटक और रंगमंच

नाटक और रंगमंच दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं । "नाटक की सही अभिव्यक्ति रंगमंच के माध्यम से होती है । यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो एक दम तात्कालिक और जीवन्त होती है, जिसका रसास्वादन हम रंगमंच पर ऐन्द्रिय बोध के साथ करते हैं ।"[1]

नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति जीवन का यथार्थ चित्र एवं काल्पनिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है । नाटक का रंगमंच ही वास्तविक रूप प्रदान करता है । रंगमंच उसे दृश्यत्व प्रदान करता है । नाटक का भौतिक और भावात्मक रूपान्तरण रंगमंच प्रस्तुत करता है । वह नाटक को नया आयाम प्रदान कर उसे अधिक जीवन्त बना डालता है । नाटक की सार्थकता तब होती है जब वह रंगमंचीय तत्वों से परिपूर्ण होता है । इसलिए दोनों का साथ साथ चलना ज़रूरी है । दोनों का विकास एक दूसरे से जुडा हुआ है । नाटक की पूर्णता में नाटककार की भाँति अभिनेता, दृश्यसज्जाकार, परिचालक आदि का योगदान अवश्य होता है ।

---

1. रंगमंच कला और दृष्टि गोविन्द चातक - (भूमिका) ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक और रंगमंच

बीसवीं सदी के हिन्दी नाटकों और रंगमंच की चर्चा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर नहीं की जा सकती, यद्यपि हरिश्चन्द्र बीसवीं सदी के नहीं हैं । भारतेन्दु का नाटककार-व्यक्तित्व एक ऐसी बुनियादी ज़मीन तैयार करता है जिसके ऊपर बीसवीं सदी के हिन्दी नाटक और रंगमंच की इमारत देखी जा सकती है ।[1] उन्होंने नाटक और रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । भारतेन्दु ने प्राचीन परंपरा और संस्कृत नाट्य शिल्प के आधार पर अपने नाटकों की रचना की । उनके नाटक राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावना से ओतप्रोत हैं । उनकी नाट्य शैली में संस्कृत, पाश्चात्य, पारसी तथा लोकनाट्य पद्धतियों का समन्वय देख सकता है ।

भारतेन्दु के आविर्भाव के समय पारसी रंगमंच, लीलामंच, लोकमंच संस्कृत रंगमंच और बंगला रंगमंच प्रचलित थे ।[2] इनमें पारसी रंगमंच सबसे अधिक विकसित और लोकप्रिय था । पारसी कंपनियाँ अपने ढंग से नाटक प्रस्तुत करती थी । लेकिन भारतेन्दु के मन में इन नाटक कम्पनियों के प्रति अधिक सद्भावना नहीं थी । एक बार पारसी रंगमंच के द्वारा प्रस्तुत "शकुन्तला" नाटक देखने के बाद उन्होंने अपना आक्रोश इन शब्दों में व्यक्ति किया है - "काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और "पतरी कमर बल खाये" यह गाने लगा तो डॉक्टर थिबो बाबू प्रमददास प्रभृति विद्वान

---

1. हिन्दी वाग्मय बीसवीं शती - डॉ नगेन्द्र - पृ: 139.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 28-29.

यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता । ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं ।"[1] फिर भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से भारतेन्दु अपने को बचा नहीं सके । उनके नाटकों में पारसी रंगमंच में प्रचलित भावावेश अधिक मात्रा में दिखायी पडते हैं । उनके प्रमुख नाटक "नीलदेवी" की रंगपरिकल्पना में पारसी रंगमंच के तत्व उपस्थित हैं ।

भारतेन्दु स्वयं सक्रिय रंगकर्मी थे, रंगमंच का उन्हें सीधा अनुभव था । उन्होंने संस्कृत नाट्य शैली से अपना सीधा सम्बध जोडा है । उस समय भारतीय रंगपरंपरा मृतप्रायः हो थी । फिर भी उस समय प्रचलित नाट्य परंपरा में सब से अधिक शक्ति संपन्न परंपरा संस्कृत की थी । उनके अनुवादों में संस्कृत नाट्य परंपरा के गुण विद्यमान हैं । "उनके हर अनुवाद के मूल में एक विशिष्ट उद्देश्य संस्कृत नाट्य की रूढियों - कार्यावस्थाओं और संधियों को हिन्दी तक पहुँचाना था तो मुद्राराक्षस का अनुवाद रूढियों के प्रति क्रांति करनेवाले सशक्त नाटक को प्रस्तुत करना था ।"[2] उनके अन्य नाटाकें में अलग अलग रंगशैलियों के दर्शन होते हैं । "भारत-दुर्दशा" संस्कृत-पारसी और लोकनाट्य शैली का मिश्रित रूप है तो चन्द्रावली में रामलीला की रंगशैली झलकती है ।[3] मौलिक नाटकों में रंगमंच के किसी न किसी नये रूप की तलाश है ।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में पारसी रंगतत्व दर्शनीय है । यह नाटक समाज की ढोंगी धर्म प्रणाली पर तीखा व्यग्य प्रस्तुत करता है । "चन्द्रावली" में रासलीला की शैली है तो "एक सत्यहरिश्चन्द्र" में पारसी रंगशैली का प्रयोग है । "अंधेर नगरी" तत्कालीन शासन व्यवस्था पर गहरा व्यग्य है ।

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - रामविलास शर्मा - पृः 74.
2. हिन्दी नाटक - डॉ. बच्चनसिंह - पृः 32-33.
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषमबेदी - पृः 31.

इसके सम्बध में डॉ. लाल ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है - ""अंधेर नगरी" कितनी परम्पराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का यथार्थ रूपक है - जिसको भाषा, रूपबंध और समूचा रंगमंच हिन्दी की अपनी मौलिक कृति है ।"[1] इसकी नाट्य शैली को लेकर आलोचकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं । भारतेन्दु ने स्वयं इसे प्रहसन कहा है । गोपीनाथ तिवारी ने "भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन में" इस नाटक को प्रहसन ही माना है ।[2] इसमें न प्रस्तावना है और न भरतवाक्य जो संस्कृत प्रहसन के प्रमुख लक्षण हैं । इसके अंक विभाजन में पारसी रंगमंच का प्रभाव अवश्य झलकता है लेकिन पात्रों के प्रवेश पारसी रंगपरंपरा से भिन्न हैं ।

भारतेन्दु के प्रयास से प्राचीन रंगपरंपरा के पुनर्जागरण का जो नया रूप दृष्टिगोचर होने लगा था वह उसके बाद न दिखायी पडा । क्योंकि भारतेन्दु के अतिरिक्त इस युग के लेखक या तो भारतेन्दु का ही अनुकरण करते थे या उन्हीं की प्रेरणा से नाट्य सृजन करते थे । भारतेन्दु युग के अन्य नाटककार भी उसके दिखाये गये मार्ग से आगे बढते थे । उनके द्वारा महत्वपूर्ण नाट्य प्रयोग नहीं हुए । फिर भी श्री राधाकृष्ण दास का नाटक "महाराणा प्रतापसिंह" और श्रीनिवास दास का "रणधीर प्रेममोहिनी" भारतेन्दु की नाट्य शैली को अपनाकर लिखे गये और इनका रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुतीकरण हुआ है ।

श्रीनिवास दास का "रणधीर प्रेममोहिनी" भारतेन्दु के बाद का बहुचर्चित नाटक है । विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक माना है ।[3] शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक "रोमियो-जूलियट" से इसका साम्य है लेकिन "नाटक में शेक्सपियर जैसा रंगदृष्टि नहीं है ।"[4] रंगपरिकल्पना में यह पारसी रंगमंच से प्रभावित दीखता है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ: 41.
2. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन - गोपीनाथ तिवारी - पृ: 303
3. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ: 186.
4. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - सुषमबेदी - पृ: 46.

पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक

हिन्दी का नया रंगमंच विभिन्न रंगप्रयोगों का परिणाम है उसमें किसी एक परंपरा का पालन नहीं । उसकी आज की स्थिति में पारसी रंगमंच का योगदान अवश्य रहा है । लेकिन आज का नाटककार उस रंगपरंपरा की चर्चा बहुत ही हेय दृष्टि से करते हैं । अगर किसी नाटक को नीचा दिखाना है तो उसे पारसी रंगमंच से प्रभावित कहते हैं । इस सन्दर्भ में पारसी रंगमंच पर थोडा विचार समीचीन होगा ।

पारसियों ने पहले दूसरों की देखा-देखी शौकिया तौर पर (1853) नाटक खेलना शुरु किया ।[1] बाद में व्यवसायिक रूप में बहुत अधिक नाटक-कम्पनियों की स्थापना हुई । इनमें प्रमुख हैं - "विक्टोरिया नाटक कम्पनी (1868), हिन्दी नाटक मण्डली (1873) , इंदियन इम्पीरियल थियेट्रिकल कम्पनी (1881) पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ऑफ बोम्बे (1903) शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी (1909) पृथ्वी थियेटर्स (1944) आदि ।"[2]

पारसी रंगमंच का प्रचार और प्रसार भारत में पर्याप्त मात्रा में हुआ । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद जैसे महान नाटककार इस रंगपरंपरा की प्रेरणा पाकर नाटक लिखने लगे । यद्यपि भारतेन्दु के मन में पारसी रंगतत्वों के प्रति आक्रोश था फिर भी वे उसके प्रभाव से नहीं बच सके । उनके "नीलदेवी" जैसे प्रमुख नाटक की रंगपरिकल्पना में पारसी रंगमंच के अनेक तत्व खोजे जा सकते हैं ।[3]

---

1. रंगमंच कला और दृष्टि - गोविन्द चातक - पृ: 187.
2. वही ।
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 30.

पारसी रंगमंच के प्रचार के समय भारत में संस्कृत रंगमंच अपने समृद्ध अवस्था में था । हिन्दी नाटक उस संस्कृत रंगपरंपरा को आत्मसात करने केलिये उठा ही था कि पारसी रंगमंच ने इसपर ज़ोरदार आक्रमण किया । यह आक्रमण इतना तेज़ था कि पारसी रंगमंच ने जनता को अपने कसाव में ले लिया । इस दुःखद स्थिति को व्यक्त करते हुए नाटककार मोहन राकेश ने लिखा है - "जहाँ हिन्दी नाटक का उदय सदियों के व्यवधान के बाद संस्कृत नाटक की परंपरा में और उसी की विरासत लेकर हुआ, वहाँ हिन्दी रंगमंच ने उन पारसी कम्पनियों की हीन और सडी गली विरासत लेकर जन्म लिया, जो स्वयं घटिया दर्जे के यूनानी रंगमंच से प्रेरणा लेकर पनपी थीं । लकडी के तख्ते, चार-छे मोडे रंगे हुए गोल होकर उठनेवाले पर्दे, एक ड्राप सीन और रंगमंच तैयार ।"[1]

पारसी रंगमंच की बहुत अधिक कमियाँ रहीं । इसके प्रस्तुतकर्ता का मुख्य उद्देश्य धन कामाना ही था । नाटक की महत्ता की चिन्ता उनको लेशमात्र भी नहीं थी । इसके सम्बध में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है - "उसको यह कतई चिंता न थी कि वह खेल क्या रहा है, उसकी रचना क्या है, वह रचना कैसी रंग सज्जा माँगती है ! कैसा प्रकाश और कैसा सम्पूर्ण रंगशिल्प, वह रचना किस काल पर आधारित है, किस युग की व्यंजना है उसमें, उसकेलिए कैसा वातावरण और कैसा अभिनय चाहिए, इन बातों की उसने ज़रा भी चिन्ता न की । प्रदर्शन ! मात्र प्रदर्शन ।"[2] लेकिन सत्य की बात यह है कि नाटक की श्रेष्ठता मात्र पदर्शन में नहीं बल्कि भावानुभूति और विचार दर्शन के समन्वय में है ।

---

1. सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि - मोहन राकेश - पृः 98.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - डॉ. लाल - पृः 16.

अतिरंजित और अतिनाटकीय वस्तु और प्रस्तुतीकरण पारसी रंगमंच की अपनी विशेषता है । पारसी रंगमंच में जैसा कथ्य है उसी के अनुरूप एक रंगमंच भी वह प्रदान करता है । हिन्दी केलिए उसने एक नया रंगमंच तैयार किया है । पारसी रंगकारों ने रासलीला, रामलीला, नौटंगी, संस्कृत, पाश्चात्य नाटय-सभी की विशेषताओं का निज में समाहार कर एक ऐसा नाट्य रूप दिया जिसमें गीत, तृत्य आदि का चमत्कारपूर्ण मिश्रण है ।[1] पारसी रंगमंच की यह देन अविस्मरणीय हैं । आधुनिक हिन्दी नाटक में कथ्य की अधिक प्रभावशाली अभि-व्यक्ति निःसन्देह पारसी रंगमंच की देन है । नाटक में व्यग्य को उभारने केलिए पारसी रंगशैली अधिक उपयुक्त हैं । इसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने युग के सभी नाटककारों को प्रभावित किया है । पर आज उसका जिक्र ही नहीं क्योंकि आधुनिक हिन्दी रंगमंच उतना आगे बढ गया है ।

प्रसाद और उनकी रंगदृष्टि

भारतेन्दु के पश्चात हिन्दी नाटक को एक नयी नाट्य शैली प्रदान करने का सार्थक प्रयास जयशंकर प्रसाद ने ही किया । वे अपने युग के सजग व जागरूक कलाकार हैं । उन्होंने हिन्दी नाटक को एक नयी दिशा दी । रंगमंच के क्षेत्र में प्रसाद का योगदान अविस्मरणीय है । उनकी नाट्य शैली न तो पाश्चात्य पद्धति पर दुःखान्त है और न भारतीय पद्धति के अनुसार सुखान्त ही । "उन्होंने दोनों नाट्य शैलियों का सुन्दर समन्वय कर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया ।"[2]

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - सुषम बेदी - पृः 63.
2. हिन्दी नाटक और नाटककार - डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल - पृः 58.

प्रसाद के नाट्य साहित्य को लेकर आज बहुत वादविवाद है । नाटककार एवं आलोचक लक्ष्मीनारायण लाल प्रसाद के सारे कृतित्व को पारसी रंगमंच से प्रभावित मानते हैं । उनके अनुसार "प्रसाद को अपनेलिये स्वरंगशैली का अन्वेषण भी करना था, जिसे वह अंततः नहीं कर सके ।"[1] लेकिन डॉ. गोविन्द चातक इसके विपरीत मत प्रकट करते हैं - "प्रसाद ने प्रारंभ में अपने नाटकीय विधान में संस्कृत नाटक के शास्त्रीय तत्वों के साथ पाश्चात्य नाट्य पद्धति का अद्भुत समाहार किया और अन्ततः वे अपने नाटकों केलिए स्वतंत्र शैली की खोज में भी सफल हुए ।"[2] गोविन्द चातक का यह कथन अधिक समीचीन लगता है क्यों कि प्रसाद की चन्द्रगुप्त", "स्कन्दगुप्त" "ध्रुव स्वामिनी" जैसी श्रेष्ट रचनाओं में इन दोनों शलियों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है ।

प्रसाद के नाटकों के प्रस्तुतीकरण के सम्बध में मतभेद हैं । यह सत्य है कि उनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्न महत्वपूर्ण हैं । उनकी रंगमंचीय स्थिति पर विचार करते हुए श्री बलवंत गार्गी लिखते हैं - अब भी अधिकांश निर्देशक उनकी भाषा की क्लिष्टता, दृश्यों की प्रचुरता और विशाल कार्यविस्तार देख कर झट कह देते हैं कि यह नाटक मंचीय नहीं है । किन्तु इन नाटकों को अन्वितित्रय की कसौटी पर परखना अनुचित है । संकुचित यथार्थवादी पश्चिमी ढंग के मंच केलिए उनके नाटक नहीं थे । इनके प्रस्तुतीकरण केलिए कल्पनाशील निर्देशक की आवश्यकता है, जो हमारी प्राचीन और लोकनाट्य परंपराओं को समझकर और वर्तमान - मंच शैली को ग्रहण करके इनका उपयोग कर सकें ।"[3] इस कथन से स्पष्ट है कि प्राचीन और नवीन नाट्यपरंपरा तथा नवीन मंच शैली की पकड न होने के कारण अधिकांश निर्देशक प्रसाद के नाटकों को न-मंचीय कहते हैं । नवीन मंचशैली के सही मुहावरों से इन्हें मंचित करने में अब उतनी कठिनाई नहीं है जितनी पहले थी ।

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृः 43.
2. प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प डॉ. गोविन्द चातक - प्र. सं. पृः 32.
3. रंगमंच - बलवंत गार्गी - पृः 192.

प्रसाद के नाटकों के मंचीकरण के सम्बध में डॉ. गोविन्द चातक कहते हैं - यह स्पष्ट सा है कि प्रसाद का कथ्य नाटकीयता से पूर्ण है । उनके नाटकों में इतने तीव्र क्रिया-व्यापार, विरोधी तत्व, भावों के विविध रंग और युगीन सन्दर्भ विद्यमान हैं कि रंगमंच केलिए उनकी उपयुक्तता सर्वथा सिद्ध है । इसीलिए आज का समीक्षक यह मानता है कि यदि उनका नाटक मंच पर नहीं लाये जाते, तो इसका दोष उनका नहीं, रंगमंच का है ।"[1] किन्तु साथ ही चातक सफल प्रस्तुतीकरण केलिए प्रसाद के नाटकों की कांट-छाँट आवश्यक मानते हैं - "किन्तु केवल दृश्य विधान के कारण "प्रसाद" के नाटकों का रंगमंचीय बहिष्कार उचित न होगा । दृश्यों के बाहुल्य की समस्या का निदान यह हो सकता है कि भर्ती के दृश्य हटा दिये जाएँ और कई दृश्यों को काट-छाँट कर उन्हें एक दूसरे में मिला दिया जाय ।"[2] लेकिन काट छाँट से नाटक का अन्तरिक सौन्दर्य नष्ट होने की संभावना है । कभी कभी किसी रचना का कोई अंश अनावश्यक और अप्रासंगिक लग सकता है । लेकिन रचनाकार की दृष्टि में उसका विशेष महत्व होगा । उस अंश को काटना रचनाकार की सौन्दर्य दृष्टि खंडित करना है । पर कुशल निर्देशक इसका समाधान ढूँढ निकाल सकता है ।

प्रसाद के नाटकों के ठीक से प्रस्तुतीकरण न हो सकने के कारण बहुत हैं । एक कारण यह है कि अधिकतर व्यावसायिक मण्डलियाँ जोखिम उठाकर क्लासिक नाटककार प्रसाद के नाटकों को मंचित करना नहीं चाहतीं । दूसरा कारण यह है कि निर्देशकों का प्रसाद के स्तर तक न उठ पाना या उन्हें न समझ पाना । लेकिन यह कठिनाइयाँ अब दूर होती रहती है क्योंकि नये और प्रतिभावन निर्देशक आज हिन्दी रंगमंच की सेवा में संलग्न हैं । आज के प्रतीकात्मक रंगमंच के ज़रिए प्रसाद के नाटकों का प्रस्तुतीकरण अधिक सुगम है ।

---

1. प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प - गोविन्द चातक - पृ: 274.
2. वही ।

प्रसादजी के बाद जगदीश चन्द्रमाथुर ही एक सफल नाटककार रहे जिनके आगमन से हिन्दी नाट्य क्षेत्र को अशातीत सफलता मिली है । उन्होंने हिन्दी नाट्य को एक नयी दिशा दी । माथुर के बाद मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल आदि ने अपने समर्थ नाटकों से हिन्दी नाट्य क्षेत्र को संपन्न किया है ।

समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच

रंगमंचीय गतिविधि का सही अहसास वास्तव में स्वतंत्रता के बाद ही हुआ । स्वतंत्रता के पश्चात भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक जागृति के फलस्वरूप एक देशी रंगमंच की माँग अत्यन्त बलवत हो गयी । आधुनिक नाटककार रंगमंच की पिछडी स्थिति के प्रीत सचेत हो गये । यहाँ के रंगकर्मी विदेशों की रंगमंच सम्बन्धी तकनीकी उपलब्धियों से काफी प्रभावित हुए । नाट्य सृजन और प्रस्तुतीकरण में नये नये प्रयोग होने लगे । रंगमंच विषयक नयी चेतना हिन्दी नाट्य सृजन में विकसित हुई । संगीत नाट्क अकादमी नेशनल स्कूल आफ ड्रामा आदि की स्थापना रंगमंच के विकास में पर्याप्त सहायक बन गयी ।

पश्चिम से प्रभावित रंगान्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत हुआ । बंगला, मराठी, गुजराती कन्नड और हिन्दी सभी भाषाओं में एक नयी रंगदृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ । हिन्दी नाट्य क्षेत्र में प्रयोगशील नाटककार उभर कर सामने आये । वे फिर संस्कृत और लोकनाट्य परंपरा का पुनःसाक्षात्कार कर नाटक का रंगशिल्प तैयार करने लगे ।[1] वे अपने को रंगमंच का अभिन्न अंग मानकर नाटक लिखने लगे । फलस्वरूप हिन्दी के निजी रंगमंच तैयार हो गये । जगदीश चन्द्रमाथुर,

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृः 107.

मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती आदि कटिबद्ध होकर नाट्य क्षेत्र में उतरे । जगदीशचन्द्र माथुर का "कोणार्क", "पहला राजा", मोहन राकेश का "आषाढ का एक दिन", "आधे अधूरे", "लहरों के राजहंस", लक्ष्मीनारायण लाल का "मादा कैक्टस", "अंधा कुआ", "रात-रानी" धर्मवीर भारती का "अंधा युग" आदि हिन्दी रंगमंच का समृद्ध नाटक बन कर सामने आये ।

जगदीशचन्द्र माथुर

कोणार्क

जगदीशचन्द्र माथुर का नाटक "कोणार्क वह पहला नाट्य प्रयोग है जो परंपरा को नये स्तर से जोडता है ।"[1] इसकी रचना तब हुई जब हिन्दी नाटक नये प्रयोगों के लिए ललक रहा था । इसमें एक ओर इतिहास के भीतर से आज का युगबोध तथा दूसरी ओर पाश्चात्य तथा भारतीय-रंगतत्वों के अन्वेषण द्वारा एक नये नाट्य रूप की खोज का प्रयास निहित है ।[2] इसके प्रणयन की प्रेरणा नाटककार को उडीसा में समुद्र तट पर स्थित कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्यमंदिर से मिली है जो अब ध्वस्त अवस्था में है । रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाट्य साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है ।

---

1. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक - पृ: 29.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 112.

"कोणार्क" में प्रतिपादित मिथक का आवरण आधुनिक हिन्दी नाटक में एक नया प्रयोग है । इसमें कुंती और सूर्य की कथा की नयी व्याख्या है । कथा इस प्रकार है कुंती ने श्रृषि का वरदान जांचने केलिए सूर्य का अह्वान किया । दोनों एक दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये । अन्त में दायित्व के बोझ से डरकर गर्भवती कुंती को सूर्य ने त्याग दिया । कुंती और सूर्य की इस कथा को नाटककार ने कोणार्क मंदिर और मंदिर के निर्माता विशु के जीवन के साथ जोडकर नाटक में एक नयी अनुभूति जगा दी है । नाटक में नारी पात्र (सारिका) रंगमंच पर कभी नहीं आती । फिर भी प्रणय की स्मृति आद्यंत व्याप्त है । "सौम्, भव्य मंदिरों को बनानेवाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान केलिए एक झोंपडी भी न बना सके ।"[1] और "मैं भाग आया, सारिका और उसकी अंझात संतान से दूर - बहुत दूर - भुवनेश्वर में देव मंदिर की छाया में - कला के आँचल में अपना मुँह छिपाने ।"[2]

कोणार्क तीन अंकों में विभाजित नाटक है । झीने अंधकार में कोणार्क के खण्डहर की हल्की झाँकी रंगमंच पर दिखाकर नाटक शुरू होता है । नाटक के शुरू होते ही वाचिका और सूत्रधार मंच पर आते हैं उनके कथन से दर्शकों को यह मालूम होता है कि महाशिल्पी विशु एवं बारह सौ शिल्पियों और मज़दूरों की बारह वरस की लंबी साधना के फलस्वरूप कोणार्क सूर्यमंदिर का निर्माण हुआ है । प्रस्तुत उपक्रम हिन्दी नाट्य क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग है । नाटककार के शब्दों में - "उपक्रम, उपकथन और उपसंहार मेरे नये प्रयोग हैं, जिनमें आप संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के "प्रोलौग" और "एपिलौग" और कोरस की झलक पायेंगे । मुख्य नाटक की गीत इतनी तीव्र और अविछिन्न है कि नाटक

---

1. कोणार्क - जगदीश चन्द्र माथुर - पृ: 33.
2. वही - पृ: 32.

प्रारंभ होने से पूर्व दर्शकों को मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना, अंकों के बीच उन्हें कथा-प्रवाह और भाव-प्रवाह से अवगत कराना और समाप्त होते ही उनकी उद्वेलित और विश्रृंखल मानसिक दशा को संकलित करना मैं ने ज़रूरी समझा । इस तरह दर्शकों की संवेदन शीलता को क्रमशः चढाव (आरोह) और उतार (अवरोह) का मौका देना मेरा लक्ष्य है ।"[1] प्रस्तुत कथन से यह साबित है कि कोणार्क में प्रयुक्त उपक्रम, उपकथन और उपसंहार संस्कृत, लोक और ग्रीक कोरस की रंग शैलियों में से उद्भूत हुआ है ।

माथुर ने संस्कृत रंगमंच की काव्य सुलभ रसानुभूति से परिपूर्ण वातावरण और लोकनाट्य का अभिनेता और प्रेक्षक के बीच के तादात्मय आदि प्रवृत्तियों पर विशेष बल देते हुए अपने रंगमंच की कल्पना की है । "उन्होंने संस्कृत रंगमंच के जीवन्त तत्वों को ही स्वीकार किया है और उनका योग पाश्चात्य तथा लोकमंच से कर दिखाया ।"[2] भारतीय रस दृष्टि और पाश्चात्य संघर्ष तत्व का समन्वय उनके नाटकों की विशेषता है । इसी रंगदृष्टि का सुन्दर परिपाक कोणार्क में दर्शनीय है । विशु के अन्तर्संघर्ष में पाश्चात्य संघर्ष तत्व निखर आता है ।

"कोणार्क" में रेडियो शिल्प का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में हुआ है । माथुर ने भी हिन्दी रंगमंच पर रेडियो की छाप स्वीकारा है - "रेडियो-रूपक की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जिन्हें रंगमंच केलिए नूतन उपकरण माना जा सकता है । पार्श्व-संगीत की टेकनीक को रेडियो ने खूब निखार लिया है । अभिनय-कला में स्वर-संधान की महत्ता रेडियो ने ही पहले पहल स्थापित की है और भाव-भंगिमा के अभाव में स्वर में चित्रोपमता की क्षमता ला देना, यह अभिनय कला को रेडियो की

---

1. "कोणार्क" - जगदीशचन्द्र माथुर - परिशिष्ट-। - पृ: 84.
2. नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर - गोविन्द चातक - पृ: 120.

एक स्थायी देन है ।"[1] नाटक में मुर्ति-खण्डन की प्रक्रिया को दर्शक तक पहुँचाने केलिए ध्वनि का ही उपयोग किया है[2] इसमें रेडियो का प्रभाव अवश्य है । हिन्दी रंगमंच में इस प्रकार का प्रयोग नूतन एवं नवीन है ।

कोणार्क के रंगशिल्प के प्रति माथुर अत्यधिक जागरूक दिखाई देते हैं । रंगमंच की अपनी भाषा और अपने उपकरण होते हैं । वह केवल नाटक संवादों पर निर्भर नहीं वरत् दृश्य सज्जा, गीत, हाव-भाव, प्रकाश योजना आदि में भी है । दृश्य सज्जा के सम्बध में उनके विचार स्पष्ट और सुलझे हुए हैं । माथुर ने अपने शब्दों में यह व्यक्त किया है - "नाटक की सफलता सेटिंग और तडक-भड़क पर इतनी निर्भर नहीं करती जितनी की अभिनय की उत्कृष्टता पर ... अपनी सारी शक्ति भारी पर्दे और चमत्कारपूर्ण "इफेक्ट" तैयार करने में लगा दें तो नाटक सिनेमा की भद्दी नकल बनकर रह जायेगा ।"[3] उन्होंने यह भी व्यक्त किया है - "सिनेमा में जो चमत्कार स्वाभाविक जान पडते हैं, उनका नाटक में ज्यों का त्यों आरोप करना बेकार है । यहाँ तो संवाद और अभिनय को चमत्कार से अधिक महत्ता है और इसलिए उन्हीं पर विशेष ज़ोर डालना चाहिए ।"[4] उक्त बातों का सफलतापूर्वक निर्वाह कोणार्क में हुआ है ।

रंगमंच की दृष्टि से "कोणार्क" की सफलता का और एक कारण यह है कि इसमें नाटककार ने काफी विस्तृत रंगसंकेत दिये हैं । यह निर्देशक और अभिनेताओं केलिए बहुत अधिक सहायक है । उदाहरण केलिए देखिए - वेश-भूषा केलिए देखिए अजन्ता के चित्र और कोणार्क और भुवनेश्वर की ही कुछ मूर्तियों के

---

1. कोणार्क - जगदीशचन्द्र माथुर - पृ: 101-102.
2. वही - पृ: 79-80-81.
3. वही - पृ: 89.
4. वही ।

चित्र जो पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली से मिल सकते हैं , ऐसी दो मूर्तियों के रेखाचित्र पुस्तक में अन्यत्र दिये गये हैं । अवसर लोग राजसी वेश-भूषा की तडक भड़क दिखाने केलिए मुगल-युग के कपडे प्राचीन नाटकों के पात्रों को भी पहना देते हैं । ऐसी बात्तें नाटकीय प्रभाव को बढाने के बजाय उसे क्षीण कर देती हैं"[1] उसी प्रकार नाटककार ने मूर्ति के सम्बध में भी पर्याप्त जानकारी प्रदान कर दी हैं - "मूर्ति कार्ड-बोर्ड की हो सकती है लेकिन प्लास्टर आफ पैरिस को अधिक जेयेगी । कल्कत्ते के पास कृष्णनगर के मुर्तिकार साधारण मिट्टी और भूसे से ही ऐसी मूर्तियाँ बनाते हैं । निराधार लटकने का आभास तार से लटका कर दिया जा सकता है ।"[2] ये रंग संकेत और निर्देश नाटक के मंच प्रस्तुतीकरण केलिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है ।

निश्चय ही कोणार्क आधुनिक हिन्दी रंगमंच केलिए मील का पत्थर है । इसने हिन्दी रंगमंच को नया मोड और नयी दिशा दी हैं । इसमें जो विस्तृत रंगनिर्देश हैं वह आधुनिक रंगमंच केलिए एक नयी देन है । कथ्य और शिल्प दोनों की दृष्टि से इसमें नवीनता है । इसकी गठन में इतिहास माध्यम मात्र रहा है । शिल्प पर पाश्चात्य रंगमंच का प्रभाव अवश्य है । नाट्य साहित्य के विकास क्रम में इसका महत्वपूर्ण स्थान है ।

पहला राजा

जगदीशचन्द्र माथुर का मिथकीय प्रयोगशील नाटक है "पहला राजा" यह वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से सर्वथा नवीन है । वस्तु का आधार वैदिक एवं पौराणिक है किन्तु नाटक की संरचना इस प्रकार हुई है इसे पौराणिक नाटक नहीं कहा जा सकता । नाटक की भूमिका में रचनाकार ने स्पष्ट किया है -

---

1. कोणार्क - माथुर - पृ: 89.
2. वही - पृ: 88.

"मुख्य पात्र और प्रसंग मैं ने वैदिक और पौराणिक इतिहास से लिये हैं लेकिन इसीलिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता ।"[1] इसमें अतीत का आश्रय लेकर आधुनिक जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया है । "यह नाटक आज के युग के जीवन मूल्यों, मान्यताओं और धारणाओं को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखकर नई और परिवर्तित वस्तुस्थिति के लिए तर्क प्रस्तुत करता है ।"[2] नाटक तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है । इसीलिए नाटककार ने इसे"आधुनिक अन्योक्ति"[3] कहा है ।

मिथक पर आधारित इस नाटक की रचना रंगमंच को ध्यान में रखते हुए की गई है । सूत्रधार-नटी की नवीन परिकल्पना इसमें है । वे नाटक में अपनी परंपरित भूमिका निभाने के स्थान पर दो महत्वपूर्ण पात्रों के रूप में सामने आते हैं । पौराणिक परिवेश के द्वारा आधुनिक युग की समस्याओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों को प्रस्तुत करना ही नाटककार का उद्देश्य है । इसके सम्बध में डॉ. सिद्धनाथकुमार लिखते हैं - "नाटककार के मन में आधुनिक जीवन की कुछ समस्यायें रही हैं जिन्हें उसने इस नाटक के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहा है । क्या है मनुष्य और प्राकृतिक साधनों का सम्बध? किस प्रकार वह प्रकृति से जूझकर उसे अपने उपयोग के योग्य बना सकता है? क्या रही है समाज के विकास में वर्णसंकरता की देन? खून की मिलावट क्या सचमुच विरोध का विषय है? ये समस्यायें निश्चित रूप से महत्वपूर्ण हैं और नाटककार को पौराणिक प्रसंगों में इसके लिए पर्याप्त अवसर मिले हैं ।"[4] इन सब प्रश्नों का निदान लेखक ने पृथु के पौराणिक प्रसंग में खोजने का प्रयास किया है । इसीलिए पौराणिक कथा में परिवर्तन और नाटक की वस्तु में बिखराव भी हुआ है ।

---

1. पहला राजा, भूमिका - जगदीशचन्द्र माथूर ।
2. हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख - सम्पादक - डॉ. इन्द्रनाथ मदान - पृ: 89.
3. पहला राजा - माथुर - भूमिका ।
4. वही - सिद्धनाथकुमार, हिन्दी साहित्याब्द कोश 1969 - (सं.) गोपालराय - पृ: 194.

नाटक में पृथु को एक ऐसे प्रजापालक राजा के रूप में चित्रित है जो युद्ध एवं संघर्ष न करता हुआ कर्म पुरुष बनकर धरती की सम्पदा को मानव हित केलिए जुटाता है । नाटककार ने उन पूँजीपतियों की ओर भी संकेत किया है जो अपनी स्वार्थपूर्ति केलिए जनहित की उपेक्षा करते हैं । पूँजीपतियों के कारण ऐसी कोई योजना सफल नहीं होती है जिसमें जनसाधारण की प्रगति लक्षित हो । "पौराणिक मंत्र और श्राप को भाषण और नारे के रूप में चित्रित किया है । मुनियों द्वारा मंत्रपूत कुशा के प्रहारों से वेन को मारने की कल्पना के मूल में प्रजातंत्र में भाषणों द्वारा लोकमत बनाने का भाव निहित है ।"[1]

नाटक में उर्वी धरती के प्रतीकरूप में आती है । लेखक के शब्दों में "उर्वी धरती की आत्मा है । उर्वी पुरुषार्थ को चुनौती है । उर्वी लोकजीवन की अन्तरध्वनि है ।"[2] इसीलिए उर्वी कभी पृथु को धरती की सम्पदा को लोक-हित में उपयोगी बनाने केलिए प्रेरित करती है । वह शासन कार्यों में पृथु की सहायता करती है । वह उपदेश देती है कि आर्यों और अनार्यों के संगम से भविष्य उज्जवल होगा - तुम राजा हो । आर्य और अनार्य, नाग और निषाद, सभी का ताना-बाना ही तो तुम्हारा राजवस्त्र है । इन्हें मिलाओं तो समाज का आधार मज़बूत होगा, अलग रखेंगे तो समाज भी टूक टूक होगा और धर्म भी ।"[3] पृथु स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री नेहरू को कहीं अपने में स्थापित करता है । पृथु के पहला राजा बनने पर जो समस्यायें उठती हैं उनमें नेहरू काल की समस्याओं को देखा जा सकता है । नाटककार ने अन्य पात्रों को भी प्रतीकात्मक रूप में चित्रित किया है । इस प्रकार पौराणिक पात्रों के ज़रिए समसामयिक समस्याओं का चित्रण आधुनिक नाट्य साहित्य की नयी देन है । माथुरजी को इसमें पूरी सफलता मिली है ।

---

1. हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख - डॉ. इन्द्रनाथ मदान - पृ: 60-61.
2. पहला राजा - माथुर - पृ: 116.
3. वही - पृ: 80-81.

"पहला राजा" की रंगपरिकल्पना - अयथार्थवादी है । "इसमें माथुर ने यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं को तोडकर अपने ही कथ्य से नियमित एक स्वतंत्र मुक्त, खुले संचरण करनेवाले बहुधरातलीय मंच को कृति में से उजागर किया है जिसमें लोकनाट्य का सा शैथिल्य है, संस्कृत नाट्य की सी कल्पनाशीलता पाश्चात्य रंगमंच की प्रतीकात्मकता और आधुनिक चिन्तन की प्रौढता । लोक-नाट्य का गीत-तत्व और मुखौटों का प्रयोग उसके रंग तत्वों को और भी गतिशील तथा सम्पूर्ण बनाते हैं । संगीत, आख्यान, मिथक, मुखौटे तथा कल्पनाशीलता से सम्पन्न पहला राजा ब्रेख्त के नाटकों की तरह ही सम्पूर्ण रंगमंच की खोज का प्रयास है ।"[1] लेकिन माथुर ने बेरन्त का अन्धातुकरण नहीं किया है । उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य रंग परंपराओं का संधान कर उसका नयी दृष्टि से सर्जनात्मक उपयोग करने की चेष्टा की है ।

नाटक के आरंभ में दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और कवियों का आह्वान संस्कृत नाटक के मंगलाचरण का ही नवीन रूप प्रतीत होता है । लेकिन बार बार सूत्रधार-नटी का अवतरित होकर नाटकीय प्रसंगों की वैज्ञानिक, तर्कसम्मत व्याख्या करना संस्कृत नाटक को प्रवृत्ति नहीं है । नाटक में सूत्रधार नटी लोकनाट्य या पश्चिमी "कोरस" के निकट आ जाते हैं । जो भी हो, इसके सूत्रधार - नटी किसी एक परंपरा का पालन नहीं वरन् विभिन्न परंपराओं पर आधारित नवीन प्रयोग है ।

इस नाटक के प्रस्तुतीकरण में सब से महत्वपूर्ण है प्रकाश-व्यवस्था । इसके बिना नाटक का मंचन संभव नहीं क्यों कि हर प्रक्रिया के बाद अंधकार होना ज़रूरी है और तभी सूत्रधार-नटी मंच पर पुनः प्रवेश करते हैं । प्रकाश केवल उन्हीं को घेरे रहता है । तीसरे अंक में आगे सूत्रधार-नटी बोल रहे हैं, दूर टीले पर

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 133.

प्रकाश और ध्वनि के द्वारा पुरुषों की भारी पदार्थ खींचती पंक्ति दिखाई गई है और वहीं मंच के एक कोने में पृथु और अर्चना छिपकर खेड हैं ।[1] प्रकाश व्यवस्था के बिना मंच पर यह दृश्य दिखाना मुश्किल है ।

मंथन का दृश्य नाटककार ने प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है । "यह दृश्य "पहला राजा" को धार्मिक कर्मकांड प्रधान ग्रीक नाट्य के निकट लाता है"[2] ऐसी दृश्य सज्जा आधुनिक हिन्दी नाट्क को माथुर की देन है ।

पहला राजा में भाषा का नया प्रयोग है । इसमें माथुर ने एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो परंपरा से एकदम भिन्न है और जिस में अंग्रेज़ी और उर्दू का मिश्रण है । सधारणत: पौराणिक नाटकों की भाषा संस्कृतमयी हिन्दी होती है । "पहला राजा" में इसके विपरीत भाषा के प्रयोग का मुख्य कारण यही होगा कि माथुर आधुनिकता के समर्थक हैं । निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि - मिथकीय वस्तु का चुनाव, नवीन रंग परिकल्पना, प्रतीकात्मक चरित्र योजना मुखौटों का कल्पनाशील, प्रयोग, प्रकाश और ध्वनि के संस्पर्श से "पहला राजा" हिन्दी नाट्य की महत्वपूर्ण कृति बन गयी है । इसमें आधुनिक हिन्दी रंगमंच की खोज का एक महत्वपूर्ण प्रयास है ।

---

1. पहला राजा - माथुर - पृ: 75.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 136.

मोहन राकेश

हिन्दी नाट्य साहित्य में जिस रंगान्दोलन की शुरूआत माथुर ने की है उसका समुचित विकास मोहन राकेश के पदार्पण से हुआ । नाट्य प्रयोग की दृष्टि से आज के युग के सब से महत्वपूर्ण प्रयोगकर्ता हैं मोहन राकेश । हिन्दी रंगमंचीय प्रयोग के सम्बध में अपना मत व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि शिल्प की अपेक्षा शब्द और मानव पक्ष की समृद्धि हिन्दी रंगमंच केलिए प्रयोग की सही दिशा है । "तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने में विकास की एक दिशा है परन्तु उस से हटकर एक दूसरी दिशा भी है । मुझे लगता है हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है । वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानव पक्ष को समृद्ध से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की ।"[1] राकेश ने अपने नाट्य प्रयोगों केलिए यही दिशा अपनाई है । "आषाढ का एक दिन", "लहरों के राजहंस" और "आधे-अधूरे" उनके समृद्ध प्रयोगशील नाट्क हैं । "पैर तेल की ज़मीन" उनका अधूरा नाटक रहा जिसको बाद में कमलेश्वर ने पूरा किया है । इन नाटकों में राकेश ने मुख्यत: पाश्चात्य यथार्थवादी रंग-विधान ही स्वीकार किया है । लेकिन इन नाटकों का अन्तरिक गढन एक दम भिन्न है । पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ, कथानक में द्वन्द्वात्मकता, संवाद की निजीलय आदि राकेश के नाटकों की अपनी विशेषताएँ हैं ।

आषाढ का एक दिन

"आषाढ का एक दिन" मोहन राकेश का पहला नाटक है । प्रसिद्ध कवि कलिदास के जीवन को केन्द्र बनाकर इसकी रचना हुई है । यह नाट्य साहित्य की पहली कृति है जिसमें नई भूमि खोजने का उपक्रम प्राप्त है । इसके

---

1. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - मोहन राकेश - पृ: 86.

प्रणयन में राकेश ने प्रचलित नाट्य शैलियों के विरुद्ध एक नयी शैली अपनायी है । इसीलिए गोविन्द चातक ने कहा है - "हिन्दी नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद यदि लीक से हर कर कोई नाम आता है तो मोहन राकेश का ।"[1]

"आषाढ का एक दिन" अब तक रचित नाटकों से एकदम भिन्न है । कथ्य, शिल्प, भाषा और प्रयोग की दृष्टि से अगर आधुनिक नाटक की शुरुआत यहाँ से स्वीकारी जाए तो इसे अनुचित नहीं कहा जाएगा ।[2] श्री. लक्ष्मी सागर वर्ष्णेय ने भी उक्त बात का समर्थक किया है - ""लहरों के राजहंस" तथा "आषाढ का एक दिन" मोहन राकेश के नाटक हैं जिनमें आधुनिक शिल्प, नये मूल्य और आधुनिक परिवेश को महत्ता दी गयी है । ये नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की नवीनतम प्रगति की ओर संकेत करते हैं ।"[3]

मोहन राकेश ने "आषाढ का एक दिन" में कलिदास के माध्यम से आधुनिक मानव की त्रासदी को चित्रित करने का प्रयास किया है । नाटक में उसका चित्रण एक दुर्बल एवं - अन्तर्द्वन्द्व से पीडित व्यक्ति के रूप में हुआ है । "कलिदास का अभिव्यक्त संघर्ष व्यक्ति की उस विवशता का है जो परिस्थितियों से घिरा हुआ अनचाहा, कृत्रिम जीवन जीने केलिए बाध्य हो जाता है ।"[4] राकेश ने स्वयं कलिदास को हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक माना है - कलिदास मेरेलिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह

---

1. आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश - गोविन्द चातक - पृ: ।।.
2. नाटककार मोहन राकेश - सम्पादक सुन्दरलाल कथूरिया - पृ: ।7.
3. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सन्दर्भ - डॉ. लक्ष्मीसागर वर्ष्णेय - पृ: 224.
4. प्रसादोत्तर कालीन नाटक - भूपेन्द्र कलसी - पृ: 250.

प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने केलिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिमा को आन्दोलित करता है ।"[1] कालिदास के समान मल्लिका, अम्बिका, विलोप आदि पात्रों के माध्यम से समसामयिक समस्याओं पर विचार करने का सफल प्रयास नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में किया है ।

"आषाढ का एक दिन" के वस्तु विन्यास में नाटककार की गहरी रंगदृष्टि झलकती है । द्वन्द्व के सूक्ष्म ताने-बाने से नाटक का सृजन हुआ है । राकेश ने कालिदास के माध्यम से नायक के परंपरागत रूप को तोडा है । परंपरा के अनुसार नायक को सभी कलाओं से युक्त सद्गुण संपन्न एवं महान व्यक्ति होना चाहिए । यहाँ राकेश ने कालिदास की महानता के बीच एक साधारण कमज़ोर व्यक्ति को खोजा है । उसी प्रकार अन्य पात्रों को भी नाटककार ने मानवीय धरातल पर देखा है । विलोम खलनायक होने पर भी परंपरागत खलनायक का व्यवहार उसमें नहीं है । भावना के बल पर जीनेवाली भोली-भाली ग्रामीण कन्या के रूप में मल्लिका का चित्रण हुआ है । अम्बिका के चरित्र को भी राकेश ने निजी व्यक्तित्व प्रदान किया है । दन्तुल में अधिकारोन्मत्त रूप देखा जा सकता है । प्रियंगुमंजरी में राजसी शालीनता और गर्व एक साथ है । मातुल में परंपरागत विदूषक की साँकी है । लेकिन वह संस्कृत नाटक का सा पेटू ब्राह्मण नहीं है । हर एक पात्र किसी न किसी नवीनता के साथ मंच पर उपस्थित होता है ।

रंगमंच को ध्यान में रखकर राकेश ने "आषाढ़ का एक दिन" की रचना की है यथार्थवादी पश्चात्य रंगमंच के अनुरूप इसका गठन हुआ है । नाटक में पात्रों की संख्या बहुत कम है । कथावस्तु में जटिलता नहीं है। एक अंक में एक ही दृश्य है । वस्तु की गति और पात्रों की मानसिक अवस्था के अनुरूप दृश्य में हल्के परिवर्तन कर दिये गये हैं । उदाहरण केलिए पहले अंक में दीवारों पर स्वास्तिक चिन्ह निखरे हुए हैं । लेकिन दूसरे अंक में ये चित्र फीके पड जाते हैं । तीसरे अंक

---

1. लहरों के राज हंस - मोहन राकेश (भूमिका) - पृ: 8.

में वह टूटी और गिरी हालत में है । मल्लिका की टूटती हालत इन चित्रों में प्रतिबिंम्बित है । ऐसी रंगदृष्टि हिन्दी रंगमंच केलिए राकेश की देन है । उन्होंने हिन्दी नाट्य केलिए एक नयी रंग भाषा भी खोज निकाली है । "यह भाषा मात्र शब्दार्थों की भाषा नहीं है कर्यव्यापार और मुद्राओं की भाषा है, दृश्य-बिम्बों और रंगप्रतीकों की भाषा है ।"[1] कम शब्दों में अधिक संप्रेषण राकेश के नाटकों की विशेषता है । "आषाढ का एक दिन" की भाषा नाटकीय संप्रेषण केलिए उपयुक्त है ।

नाटक में प्रयुक्त प्रतीक विधान नाटकीय प्रभाव को बढाने में समर्थ है । आरंभ में भीगे कपडों के साथ मल्लिका का प्रवेश वास्तव में प्रतीकात्मक है । उसका यह भीगना उसके शरीर का ही नहीं मन की भी आद्रता व्यक्त करता है । वह कहती है - "मुझे भीगने का तनिक खेद नहीं । भीगती नहीं तो आज वंचित रह जाती ।"[2] इसी प्रकार भोजपत्र भी मल्लिका के अन्तर्मन के सप्रेषण के सशक्त प्रतीक है । कालिदास के प्रति उसकी सारी भावना इन भोज पत्रों में मूर्त हुई है । प्रियंगुमंजरी अनुस्वार और अनुनासिक में से किसी एक से विवाह करने का प्रस्ताव जब मल्लिका से करती है तब मल्लिका कुछ उत्तर न देकर उन भोज पत्रों को वक्ष से सटा लेती है । इस से यह व्यंजित होता है कि वह कालिदास के अतिरिक्त और किसी पुरुष से प्रेम नहीं कर सकती । उसी प्रकार मेघ का बिम्ब भी नाटक में आधंत छाया हुआ है । कालिदास स्वयं करीं मेघ का बिंब बन गया है । मल्लिका का कथन इसका समर्थन करता है - "देखो माँ ! चारों ओर कितने गहरे मेघ घिरे हैं । कल ये मेघ उज्जयिनी की ओर उड जायेंगे ।"[3] उसी प्रकार मल्लिका के घर में उपस्थित बर्तन और बडे बडे कुंभ में आये परिवर्तन उसके जीवन के

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 161.
2. आषाढ का एक दिन - राकेश - पृ: 15.
3. वही - पृ: 56.

प्रतीक हैं । इसप्रकार की प्रतीकात्मक दृश्य योजना हिन्दी रंगमंच केलिए नवीन उपलब्धि है । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राकेश ने अपने नाटक "आषाढ का एक दिन" के माध्यम से हिन्दी रंगमंच को एक नयी दिशा दी हैं ।

लहरों के राजहंस

लहरों के राजहंस मोहन राकेश का दूसरा नाटक है । नाटककार ने इसमें नंद और सुन्दरी के माध्यम से आधुनिक जीवन के अर्न्तद्वन्द्व को चित्रित करने का प्रयास किया है । नाटक की भूमिका में राकेश ने इस ओर संकेत दिया है - "यहाँ नंद और सुन्दरी की कथा एक आश्रयमात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है ।"[1] नंद आधुनिक मनुष्य के सन्दर्भ में ही नहीं किसी भी काल के द्विविधा ग्रस्त व्यक्ति का प्रतीक है जिसके अन्दर निर्णय अनिर्णय के द्वन्द्व की स्थिति चलती है । सुन्दरी उस अभिजात वर्ग की प्रतिनिधि है जो अपने पति को सौन्दर्याकषण और प्रणय के बंधन में बाँध रखना चाहती है ।

रंगमंच की दृष्टि से लहरों के राजहंस एक सफल कृति है । इसकी मंचीय सफलता को ध्यान में रखकर राकेश ने इसके तीसरे अंक को फिर से लिखा है । एक बार रंगमंच की वास्तविक खोज केलिए राकेश "लहरों के राजहंस" के प्रस्तुतीकरण के समय प्रशस्त दिग्दर्शक इलामानंद के साथ कलकत्ता रहे । उनके साथ नाटक के सम्बध में चर्चायें कीं । उनके निर्देशानुसार तीसरा अंक फिर से लिखा । उनके शब्दों में - "इसका कुछ अनुभव मुझे उन दिनों का है जिन दिनों कल्कत्ते में रह कर मैं ने

---

1. लहरों के राजहंस (भूमिका) - मोहन राकेश - पृ: 10.

"लहरों के राजहंस" का तीसरा अंक फिर से लिखा ।"[1] यह नाटक हिन्दी रंगमंच पर ही नहीं वरन् भारत के विविध रंगमंचों पर मंचित हो चुके हैं ।[2]

रंगमंच को ध्यान में रखकर विचार करें तो "लहरों के राजहंस" की नाटकीय उपलब्धियाँ बहुत अधिक हैं । "आषाढ का एक दिन" के समान यह भी तीन अंकों में विभाजित है । इसमें भी पात्रों की संख्या कम है कथावस्तु की संक्षिप्तता रंगमंचीय सफलता प्रदान करती है । इसमें प्रयुक्त प्रतीक विधान हिन्दी रंगमंच की नयी दिशा की ओर संकेत करता है । "नाटक में राजहंस नंद और सुन्दरी हैं और लहरें उनकी परिस्थितियाँ । अनुकूल परिस्थितियों में ये राजहंस किल्लोल करते हुए आनंदमग्न रहते हैं किन्तु अपार्थिव की छाया एक राजहंस (नंद) को आहत कर देती है और वह ताल छोडकर चला जाता है । दूसरा राजहंस (सुन्दरी) अहं पर चोट खाकर, छटपटाता रहता है "[3] नंद और सुन्दरी के माध्यम से नाटककार ने आज के मानव की विभाजित मनःस्थिति, पार्थिव अपार्थिव मूल्यों का द्वन्द्व आदि का विश्लेषण किया है । नाटक के आरंभ में श्यामांग की बातें नंद की मनःस्थिति को व्यक्त करती है । एक पात्र के उन्तर्मन की जटिलताओं को व्यक्त करने केलिए दूसरे पात्र की योजना हिन्दी रंगमंच में एक नया प्रयोग है । उसी प्रकार दूसरे अंक के आरंभ में श्यामांग का ज्वर-प्रलाप द्वारा नंद की अकुलाहट को व्यक्त किया है ।[4] अपनी ही कलांति से मरा हुआ मृग का चित्रण,[5] नंद के हाथ से गिरकर दर्पण का टूट जाना,[6] कटे हुए केश से नंद का सुन्दरी के पास लौट आना [7] आदि आदि

---

1. नटरंग (अंक 21) - पृः 17.
2. मोहन राकेश व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ. धनानन्द एम. शर्मा "जल्दी" - पृः।
3. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृः 172.
4. लहरों के राजहंस - राकेश - पृः 64.
5. वही - पृः 44.
6. वही - पृः 86.
7. वही - पृः 127.

राकेश के सशक्त प्रतीक विधान हैं पूरे नाटक में इस प्रकार का प्रतीक विधान दर्शनीय है जो कभी कभी क्लिष्टता उत्पन्न करता है फिर भी ये नाटक की रंगमंचीय सफलता व्यंजित करते हैं ।

"लहरों के राजहंस" में हिन्दी रंगमंच की सीमाओं को देखते हुए राकेश ने एक ही दृश्यबंध तीनों अंकों में रखा है । "आषाढ का एक दिन" के समान पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुसार थोडा परिवर्तन आवश्यक है । पहले अंक में उत्सव की तैयारी में दृश्यबंध उसी उल्लास को व्यक्त करता है । दृश्य साफ सुथरा और रंगीन है । लेकिन दूसरे अंक में सुन्दरी और नंद के मन की स्थिति के अनुसार अस्त व्यस्त दिखाई पडता है । तीसरे अंक में दृश्य साफ सुथरा है लेकिन सूना है । दृश्यों में आये परिवर्तन नंद और सुन्दरी के मानसिक स्थिति को व्यक्त करता है । नेपथ्य का प्रयोग भी बडा सार्थक हुआ है । इसमें संस्कृत रंगपरंपरा का प्रभाव स्पष्ट है ।

भाषा की संप्रेषण-शक्ति और लय नियोजन में राकेश सफल रंगकर्मी सिद्व हुए हैं । शब्द और क्रिया-व्यापार के सामंजस्य से एक सशक्त नाट्य भाषा के निर्माण में राकेश की क्षमता सराहनीय है । पहले अंक के आरंभ में श्यामांग द्वारा पत्तियाँ सुलझाने का क्रिया व्यापार एक प्रकार का अर्थ - संप्रेषण प्रस्तुत करता है । उसी प्रकार नंद और सुन्दरी के पक्षि मरने और खायी करने में भी अर्थ ध्वनित होते हैं ।

दृश्यबन्ध की एकरूपता के कारण "लहरों के राजहंस" का मंचन बहुत आसान है । नाटक की रंगमंचीय सफलता का मुख्य कारण राकेश के सक्षम रंग निर्देश हैं ।

आधे-अधूरे

राकेश का सब से सशक्त नाटक "आधे-अधूरे" परिवारिक विघटन का दस्तावेज़ है । यह "अषाढ का एक दिन" और "लहरों के राजहंस" से एकदम भिन्न है । इन नाटकों में इतिहास के माध्यम से आधुनिकता का विश्लेषण है तो आधे-अधूरे में आधुनिक परिवेश में जीनेवाले निर्धन, एवं नि:सहाय व्यक्ति की त्रासदी का चित्रण है । इसमें महानगरीय सभ्यता में जीनेवाले मध्यवर्गीय परिवार की दर्दभरी कहानी नाटकीय ढंग से प्रस्तुत की गई है ।

"आधे-अधूरे में कथाहीनता में कथा की तलाश है । अधूरेपन में पूरेपन को खोजने का प्रयास है ।"[1] इसकी कथावस्तु जीवन के विविध अयामों में बिखरी पडी है । महेन्द्र, सावित्री, अशोक, बडी लडकी, छोटी लडकी आदि पात्र अपने अधूरेपन में पूरेपन की तलाश के लिए बेचैन हैं । प्रत्येक पात्र अपनी अतृप्ति के कारण अभाव, आक्रोश और विषाद से अभिशप्त हैं । एक के मन में दुसरे के प्रति लगाव नहीं । सभी एक दूसरे से कटे हुए हैं ।

"आधे अधूरे में एक ओर यथार्थवादी शिल्प रचना है तो दूसरी ओर संस्कृत रंगशिल्प का प्रयोग किया गया है ।"[2] संस्कृत नाटकों के सूत्रधार नट-नटी आदि पात्रों को तरह इसमें काले सूटवाले आदमी का चित्रण किया गया है । इसके द्वारा नाटककार के पाँच पृथक भूमिकाएँ निभायी हैं । ऐसी रंगयुक्ति हिन्दी रंगमंचर पहली बार प्रयुक्त हुई है । यह दर्शकों की दिलचस्पी बढा देती है ।

---

1. मोहन राकेश व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ. धनानंद एम. शर्मा "जदलो" - पृ: 112.
2. वही - पृ: 152.

आधे-अधूरे की अत्यन्त महत्वपूर्ण रंगमंचीय विशेषता इसकी भाषा है । "इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड सके । शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन - सब कुछ ऐसा है, जो बहुत संपूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है ।"[1] राकेश ने रंगमंच को ध्यान में रखकर इसमें जीवन व्यवहार की भाषा को व्यवहृत किया है । इसमें समकालीन मुहावरों के द्वारा व्यक्ति के तनावों को सार्थक अभिव्यक्ति देने का प्रयास है - "सिर्फ एक रबड का टुकडा हूँ - बार-बार घिरता जानेवाला रबड का टुकडा ।"[2] वे सब तो एक रबड-स्टैंप के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे । सिर्फ ज़रूरत पडने पर इस सटैंप का ठप्पा लगाकर ।"[3] उक्त कथन में "रबड का टुकडा" प्रयोग सार्थक है पात्र के आक्रोश, तनाव, संघर्ष, द्वन्द्व, असन्तुष्टि आदि भाव इस से व्यक्त हैं । सावित्री, किन्नी, अशोक आदि के कथन में भी ऐसी भाषा का प्रयोग दर्शनीय है । नि:सन्देह ऐसा प्रयोग राकेश की अपनी संपत्ति है ।

"आधे अधूरे" का कार्य स्थल एक मकान के बैठने का कमरा है, जिसमें साफे, कुर्सियाँ, मेज़, अलमारी, किताबें, फाइलें आदि हैं । "एक चीज़ का दूसरी चीज़ से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की माँग के कारण लगभग टूट चुका है ।"[4] इस कमरे की हर एक चीज़ जिस प्रकार एक दूसरे से कटी हुई है उसी प्रकार उस परिवार का हर एक सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है । मंच पर उपस्थित रंगोपकरणों से दर्शकों को उस घर की स्थिति का अहसास होता है ।

---

1. आधे-अधेरे - मोहन राकेश - निदेशक का वक्तव्य - ओमशिवपुरी छठी आवृत्ति 1978 - पृ: 5.
2. आधे-अधूरे - मोहन राकेश - पृ: 38.
3. वही ।
4. वही - पृ: 10.

"आधे-अधूरे" बंद और खुये रंगमंच केलिए उपयुक्त है । इसके सम्बध में प्रसिद्ध निदेशक ओमशिवपुरी ने अपना मत इस प्रकार किया है - "नाटक के शुरू के कुछ प्रदर्शन बंद प्रेक्षागृहों में हुए । जब मुक्ताकाशी "त्रिवेणी" में प्रदर्शन की बात आयी, तो कुछ मित्रों ने शंका प्रकट की कि नाटक संभवत: खुले मंच केलिए उपयुक्त नहीं है, उसमें नाटक के तनाव और सघनता के बिखर जाने का खतरा है । लेकिन मेरी यह मान्यता है कि गंभीर नाट्य-दल को दर्शक पाने केलिए नये रास्तें ढूँढने होंगे । अगर नाटक गहन, कलात्मक नाट्यानुभूति देने में समर्थ है, अगर वह जिन्दगी की महत्वपूर्ण अथल-पुथल पर उँगली रखता है, तो हो सकता है कि बाहर सडक पर कुछ आहट या किसी कार के हॉर्न की आवाज़ मंच पर की कलात्मक मात्रा में कोई रुकावट न डाल सके । मुझे सन्तोष है कि मेरा विश्वास सही साबित हुआ । बंद और खुले प्रेक्षागृह के अन्तर से नाटक की प्रभावान्विति कोई असर नहीं पडा ।"[1]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आधे-अधूरे मोहन राकेश की सर्वाधिक समृद्ध रंग चेतना की देन है । इसकी रंगमंचीय योजना सीधी-सादी और सजीव है । नाटक बंद और खुले पंच पर असानी से खेला जा सकता है । दृश्यविधान में प्रतीक योजना प्रभावोत्मादक है । संवाद छोटे, सार्थक और साभिप्राय हैं । कहीं कहीं सावित्री और जूनेजा के संवाद लंबे होने पर भी संघर्षात्मक स्थिति के कारण प्रेक्षक की तल्लीनता बनी रहती । नाटक समकालीन जीवन का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है ।

"आधे-अधूरे" का पहला प्रस्तुतीकरण दिल्ली में "दिशान्तर" द्वारा श्री ओमशिवपुरी के निदेशन में फरवरी 1969 में हुआ । प्रस्तुतीकरण के पश्चात दर्शकों ने नाटक की प्रशंसा की । इसके बाद अनेकों स्थानों पर इसका सफलतापूर्वक मंचन हुआ है ।

---

1. आधे-अधूरे - नाटक के सम्बध में ओमशिवपूरी का लेख - पृ: 8.

लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार हैं । समसामयिक नाटककारों में उनका प्रमुख स्थान है । शैली, शिल्प, विषय एवं प्रयोगधर्मिता के वैविध्य से युक्त उनके नाटक उनके रंगानुभव के सशक्त उदाहरण हैं । हिन्दी रंगमंच की निजी नाट्यशैली की खोज में उनका योगदान अविस्मरणीय है । "अपनी समृद्ध रचना रंगमंच और नाटक की भूमिका और नाटक एवं रंगमंच से सम्बधित अन्य लेखनों द्वारा डॉ. लाल ने आधुनिक नाट्य समीक्षा के बदलते हुए चेहरे को बहुत साफ कर दिया है ।"[1]

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल जब नाट्य क्षेत्र में उतरे तब रंगमंच की कोई सुसंस्कृत परंपरा नहीं थी । पारसी रंगमंच की परंपरा भी चलचित्र के अविर्भाव से तिरोहित होती जा रही थी । हिन्दी के नये रंगमंच के निर्माण में मोहन राकेश के समान डॉ. लाल ने भी अपना योगदान दिया है । इन दोनों के परिश्रय से ही आज का हिन्दी रंगमंच इतना समृद्ध और विकसित हो गया है । पारसी रंगमंच के पतन के बाद जो दर्शक गण सिनेमा के मायाजाल में फंस गये उन्हें फिर नाटक की ओर आकर्षित करने केलिए डॉ. लाल ने अथक परिश्रम किया है । प्रेक्षकों की मनःस्थिति को उन्होंने समझ लिया है । अपने नाटक "रात-रानी" की भूमिका में डॉ. लाल ने यह स्पष्ट किया है - स्भावतः ये दर्शक न तो यथार्थवादी नाटक चाहते हैं न अभि प्रयोगात्मक रंगमंच । ये सब नाटक चाहते हैं । कैसा नाटक? ऐसा नाटक जो एक ओर इनके जीवन-दर्शन को उनके भीतर से वाणी दे सके, उन्हीं के मानस-चित्र, उन्हीं के रंगारंग में जो उन्हें बाँध सके, और उन्हें

---

1. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायणराय - पृः189.

रंगशाला में बैठने केलिए जो आकर्षित कर सके, क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार को पहले रंगशाला में दर्शकों की ज़रूरत है ।"[1] इस तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ॰ लाल ने अपने नाटकों की रचना की है ।

डॉ॰ लाल का प्रथम नाटक "अंधा-कुआ" (1956) ग्रामीण परिवेश में सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत कर देता है । "मादा कैक्टस" (1957) में यथार्थ की खोज है , "नाटक तोता मैना" (1962) लोकनाट्य शैली से जुडने का प्रयास है । "रात-रानी" (1962) दर्पण (1963) कर्फ्यू (1972) आदि यथार्थवादी रंगमंच को आधार बनाकर लिखे गये हैं । अब्दुल्ला दीवाना (1973) , सूर्यमुख (1968) , कलंकी (1969) आदि प्रयोग की दृष्टि से नवीन हैं । उनके नाटकों की संख्या तीस से अधिक है । सभी नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं । हमने केवल उन्हीं नाटकों की चर्चा यहाँ की है जो सब से महत्वपूर्ण दिखायी देते हैं ।

कर्फ्यू (1972)

नाटक की रंगमंचीय सफलता में कथावस्तु, चरित्र, अभिनय, कथोपकथन, भाषा आदि का समान महत्व है । "कर्फ्यू" में परंपरा से हटकर एक नये कथ्य की तलाश है । यह नाटक उन वर्जनाओं की ओर संकेत करता है जिस से वशीभूत होकर आज के लोग जीवन जी रहे हैं । आज का व्यक्ति सामाजिक नैतिक मूल्यों के पालन में अपना व्यक्तित्व नष्ट कर रहा है । "सामाजिक नैतिक मूल्यों का गट्ठर उठाते-उठाते वह अपने सहज व्यक्तित्व और सहज जीवन की सार्थकता को ही खो बैठा है ।"[2] वह औपचारिकता एवं व्यर्थ शिष्टाचारों के घेरे में घिर गया है । कृत्रिम सामाजिक जीवन मूल्यों ने उसके जीवन को कृत्रिम बना दिया है ।

---

1. रात-रानी - (भूमिका) - डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल - पृ: 12.
2. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ॰ शेखर शर्मा - पृ: 205.

मनुष्य जन्मतः स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहता है । लेकिन सामाजिक बंधन उसके ऐसा जीवन जीने में बाधा उत्पन्न करता है । ऐसी स्थिति में वह अपनी सहज भावनाओं, इच्छाओं - आकांक्षाओं का दमन कर घुटन भरा जीवन व्यतीत करने केलिए बाध्य हो जाता है । ऐसा व्यक्ति कभी कभी अपराध कर डालता है । "हमारा व्यक्ति जीवन बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक कर्फ्यू में, हद में, पाबन्दी में, वर्जनाओं में घिर कर जिया जाता है, इसी नाते हम अपनी जीवनी शक्ति को अभिव्यक्त करने केलिए समाज में, घर में, पास-पडोस में सहसा अपराध कर बैठते हैं रॉयट करते हैं और इस तरह से अपने भीतर लगे कर्फ्यू को तोडना चाहते हैं ।"[1]

डॉ. लाल का "कर्फ्यू" नाटक इस दिशा की ओर संकेत करता है । नाटक का परिवेश एक ऐसा शहर है जहाँ "रॉयट" हो चुका है । इसके फलस्वरूप नगर में कर्फ्यू लगा दिया गया है । कर्फ्यू की रात गौतम की पत्नी कविता संजय के घर में और संजय की पत्नी मनीषा गौतम के घर शरण लेती है । दोनों स्त्रियाँ और दोनों पुरुष एक दूसरे के साथ यौन सम्बध स्थापित करते हैं । बाद में चारों पात्र यह अनुभव करते हैं कि उनके पहले का जीवन सहज न होकर वर्जनाओं से घिरा हुआ था ।

नाटक में कविता सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं जीवन के नियमों के अनुसार चलनेवाली औरत है । लेकिन कर्फ्यू की रात जब वह संजय के सामने बैठती है तब अपने भीतर की प्यास, जो वर्षों से दबी रहती थी, को रोकने में असमर्थ हो जाती है । वह संजय के सामने अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर देती है । उस पूर्ण समर्पण में वह एक प्रकार का सुख अनुभव कर लेती है जो कृत्रिम नहीं है । अपने

---

1. नाटककार लक्ष्मी नारायण लाल की नाट्य साधना - नरनारायण राय - पृ: 95.

ऊपर लगाए कर्फ्यू को तोडते हुए कविता को एक नये व्यक्तित्व का एहसास होता है । वह घर वापस लौटती है और देखती है कि बेडरूम में मनीषा पडी है और पति अस्तव्यस्त हालत में सोफे पर लेटा है । कविता किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करती । वह पति को परस्त्री सम्बध का दोषी नहीं मानती गौतम को मनीषा में और संजय को कविता में नारी के नये पहलू दिखाई देते हैं, जो उन्हें अपनी पत्नियों में दिखाई नहीं देते । यही बात मनीषा और कविता के सम्बध में लागू होता है ।

"कर्फ्यू" में स्त्री-पुरुष सम्बधों के नये दृष्टिकोण का विश्लेषण है । लेकिन कुशल निर्देशक एवं अभिनेताओं के अभाव में नाटक दर्शकों की यौन तृषणा को उभारनेवाला साधारण नाटक ही रह जाता है । यद्यपि नाटककार ने दाम्पत्य जीवन की एक नयी दिशा की ओर संकेत किया है तो भी जीवन में ऐसा होना संभव नहीं है । नाटककार ने इसको स्वीकार भी किया है - "मैं मानता हूँ कि शायद जीवन में ऐसा नहीं होता, लेकिन मेरा विश्वास है, जीवन में ऐसा क्यों न हो और यही इस नाटक की विशेष रचना है, लेखन नहीं । आज जीवन में जिस बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत है, मैं ने यह इशारा इसी रचना भूमि से करने की कोशिश की है ।"[1] नाटककार का विचार स्पष्ट है - "जो सहज है, मानवोचित है उस पर इतनी पाबन्दी क्यों? जो अपने भीतर का कर्फ्यू नहीं तोडते वही बाहर कर्फ्यू लगाते हैं और उसे तोडने केलिए अपराध करते हैं ।"[2]

---

1. कर्फ्यू - डॉ. लाल नाटक के बारे में लेख की निजी डायरी से - पृ: 8.
2. कर्फ्यू - डॉ. लाल - पृ: 114-115.

रंगमंच की दृष्टि से नाटक सफल है । दिल्ली की अभियान नाट्य संस्था की ओर से इसका प्रथम प्रदर्शन प्रसिद्ध निर्देशक टी. पी. जैन के निर्देशन में 12 नवम्बर 1971 को हुआ । इसमें दर्शकों को बाँध रखने की क्षमता है । मंच सज्जीकरण आसान है । पात्रों की बहुलता नहीं । डॉ. लाल कुशल अभिनेता भी है । नाटक अभिनय के योग्य है । इसमें दिये गये रंगनिर्देश नाटककार का रंगमंच सम्बधीज्ञान व्यक्त करता है । नाटक का दृश्य-विधान इस प्रकार का है कि एक ही कमरे के दृश्य-बंध पर पूरे नाटक को प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रकाश संयोजन द्वारा दृश्य परिवर्तन हो सकते हैं ।

सूर्यमुख (1968)

मिथकीय आवरण पर समसामयिकता का चित्रण लाल के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता है । "सूर्यमुख" मिथक पर आधारित प्रयोगशील नाटक है । इसके माध्यम से नाटककार ने मुक्त प्रेम की समस्या को उठाया है और उसके साथ ही साथ युद्ध की प्रतिक्रिया से उत्पन्न मुल्य हीनता को भी उजागर किया है । इसमें गाँधारी के शाप से अभिशप्त कृष्ण की द्वारिका के विघटन की दृष्ठभूमि पर कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और कृष्ण की छोटी रानी वेतुरती के प्रेम का विश्लेषण है । माँ-बेटे के अवैध प्रेमसम्बध के कारण सारी नगरी के लोग इनके विरुद्ध हो जाते हैं । डॉ. लाल ने कलह और स्वार्थ लिप्सा के काले समुद्र में इनके प्रणय के सहज सम्बध में ही सूर्यमुख का दर्शन किया है । हिन्दी रंगमंच केलिए इस प्रकार का विषय बहुत नया और परंपरा के विपरीत है । लाल ने इस प्रकार के विषय का इस्तेमाल इसीलिए किया है कि इसके द्वारा रंगमंच पर द्वन्द्व की स्थिति स्थापित की जा सकती है । लेकिन इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली है - "किन्तु नाटक की वस्तु में गहन अन्तर्द्वन्द्व या किसी सार्थक मानवीय मुल्य की तलाश की जो संभावनाएं थीं उन्हें नाटककार उजागर नहीं कर पाया । अपितु अपनी तलाश में वह भटक गया है ।"[1]

---

1. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - डॉ. सुषम बेदी - पृ: 184-85.

"सूर्यमुख" में यथार्थवादी रंगमंच के बदले संस्कृत और शेक्सपियर के कल्पनाशील रंगमंच को प्रधानता देने का प्रयास है । नाटक में रंगसंकेत कम दिये गये हैं । दृश्य बार बार बदलते हैं किन्तु स्थान और समय की सूचना संवादों से प्राप्त होती है - "तुम द्वारिका में नहीं जाओगे । मुखौटा लगाकर इन्हीं अन्धी पहाडियों में घूमते रहोगे ।[1] इसका रंगमंच कृति के भीतर से उभरता है और वह खुला मुक्त रंगमंच है जिस पर विशेष सज्जा की आवश्यकता नहीं अपितु किसी प्रतीकात्मक मंच उपकरण द्वारा ही दृश्य संकेत किया जा सकता है ।[2] इस प्रकार सूर्यमुख के अध्ययन से हम समझ सकते हैं कि डॉ. लाल ने माँ-पुत्र के प्रणय सम्बध को उठाकर नाट्य वस्तु को नया अयाम दिया है । साथ ही साथ यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं को तोडकर इसमें कल्पनाशील खुले रंगमंच की परिकल्पना भी की है ।

कलंकी §1969§

लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक कलंकी भी रंगमंच की दृष्टि से एक नया प्रयोग है । यह भी मिथक पर आधारित है । इसका मिथक कल्कि अवतार के हिन्दू मिथ से जुडा है । कलंकी नगर के निवासी कल्कि अवतार की प्रतीक्षा में ही सारा जीवन बिता देते हैं । नाटककार ने इसमें तान्त्रिक साधना के प्रतीकों द्वारा सामायिक राजनैतिक नेताओं की खिल्ली उठायी है । जिस प्रकार तांत्रिक साधारण लोगों को मूढ बनाकर स्वार्थ लाभ उठाते हैं उसी प्रकार आज के राजनीतिज्ञ साधारण लोगों को मूर्ख बना देते हैं और उसकी कमज़ोरी का फायदा उठाकर शासन करते रहते हैं । नाटक के सभी पात्र तंत्र साधना से जूडे हुए भी आज के सन्दर्भ में प्रतीकात्मक अर्थ संकेतित करते हैं । "तंत्र शासन-व्यवस्था का, गाँव के किसान पुरुष और स्त्रियाँ दलित मूढ़ प्रजा का, कलंकी सुखद भविष्य का तथा हेरूप सजग चेतना का प्रतीकात्मक संकेत व्यक्त करते हैं ।"[3]

---

1. सूर्यमुख - डॉ. लाल - पृ: 20 §1968§.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 185.
3. वही - पृ: 187.

कलंकी में डॉ॰ लाल ने संस्कृत, लोक-नाट्य पाश्चात्य नाट्य शैलियों का उपेयोग किया है । इसमें कहीं नाटक के आदिम रूप की भी झलक मिलती है । गाँववालों के समूहगीत ग्रीक कोरस की याद दिलाती है । संस्कृत, ग्रीक, लोक और पाश्चात्य नाट्य व्यवहारों के सम्मिश्रण से कलंकी के जिस नाट्य रूप का निर्माण हुआ है वह हिन्दी का एक नितांत नवीन नाट्य रूप है ।

कलंकी में अंक विधान नहीं है । सम्पूर्ण कार्यव्यापार आदि से अन्त तक मुक्त रूप में घटित होता है । नाटक के प्रारंभ होते ही ध्वनि और प्रकाश की योजना के साथ हेरूप का आंगिक अभिनय कार्य को उत्तेजना प्रदान करता है । कलंकी की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कोई घटना नहीं है केवल माहौल है । बाहरी या आन्तरिक घटना के अभाव में नाटक में कार्य-विकास के पारंपरिक रूप का प्रश्न ही नहीं उठता । किन्तु कलंकी की प्रतीक्षा, जनता की जडता, शासक के कुतंत्र की स्थितियाँ , पूरे नाटक में एक तनाव की सृष्टि अवश्य करती चलती हैं । यह नाटक निर्देशक को भी निजी व्यख्या और कल्पना की पूरी छूट देता है क्योंकि उसके रूप में एक लचीलापन एवं खुलापन है । सारा नाटक एक रहस्यमय धार्मिक कर्मकांड बनकर रह जाता है ।

रंगमंच के विकास में धर्मवीर भारती का योगदान

अंधायुग

हिन्दी रंगमंच के विकास में धर्मवीर भारती का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उनका "अंधायुग" हिन्दी गीति-नाट्य की परंपरा में एक नवीन उपलब्धि है । इस से पहले हिन्दी में जो गीति-नाट्य लिखे गये थे वे एकांकी गीति-नाट्य थे । ""अंधायुग" हिन्दी का एकांकी गीति-नाट्य न होकर सर्वप्रथम पूर्ण गीति-नाट्य है ।"[1]

"अंधायुग" विभाजन के बाद की मूल्यहीनता का उद्घाटन करता है । "इसमें व्यक्ति के संशय, उसके स्वार्थ, उसकी अनास्था, समाज और व्यक्ति के जीवन में मूल्यविघटन के मूल कारणों का पता लगाने का प्रयास है ।"[2] "अंधायुग" में महाभारत युग की वह कथा समाहित है जिसमें नैतिक मूल्य पतन के गहन गर्त की ओर बढ रहे थे । इसमें इस काल की घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा, रक्तपात, अविवेक, टूटन-विघटन आदि की अभिव्यक्ति है ।

रंगमंच को ध्यान में रखकर भारती ने "अंधायुग" की रचना की है । "अंधायुग" के निर्देश में भारती ने इसकी पुष्टि की है - "मुलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था । यहाँ वह उसी मूल रूप में छापा जा रहा है । लिखे जाने के बाद उसका रेडियो-रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके सम्वादों की लय और भाषा को माँजने में काफी सहायता मिली ।

---

1. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - सुरेश गौतम - पृः 53.
2. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा - पृः 153.

मैं ने इस बात को ध्यान में रखा है कि मंचविधान को थोडा बदलकर यह खुले मंचवाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है । अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं ।"[1]

अंधायुग ने हिन्दी नाटक ही नहीं हिन्दी रंगमंच को भी गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनों के अभिन्न सम्बध को बडी सफलता से स्थापित किया है । "रंगमंच की समस्त विशेषताओं - काव्यत्व, नाटकत्व, जीवन से सम्बद्धता, प्रतीकात्मकता, कथा संगठन, पात्रों के व्यक्तित्व के मार्मिक अंकन, गीत-संगीत, छंद की नवीनता और लय, कथोपकथन की उचित संयोजना, कला की सोद्देश्य आदि सभी मानदण्डों पर यह सशक्त तथा पूर्ण कृति है ।"[2]

"अंधायुग" के मंचविधान को भारती ने बहुत सरल बनाने का प्रयत्न किया है । निर्देशक केलिए पर्याप्त निर्देश भूमिका में दिया है - "समस्त कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है । बीच में अन्तराल । अन्तराल के पहले दर्शकों को लम्बा मध्यान्तर दिया जा सकता है । मंचविधान जटिल नहीं है । एक पर्दा पीछे स्थाई रहेगा । उसके आगे दो पर्दे रहेंगे । सामने का पर्दा अंक के प्रारंभ में उठेगा । और अंक के अन्त तक उठा रहेगा । इस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं, उनमें बीच का पर्दा उठता-गिरता रहता है । बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए । मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिए । प्रकाश व्यवस्था में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए ।"[3] प्रस्तु कथन भारती की रंगमंच सम्बधी जानकारी व्यक्त करता है ।

---

1. अंधायुग - धर्मवीर भारती - निर्देश - पृ: 7.
2. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - सुरेश गौतम - पृ: 125.
3. अंधायुग - भारती - निर्देश - पृ: 6.

नाटक में अंक परिवर्तन केलिए कथा-गायन की पद्धति को भारती ने लोक-नाट्य से ही ग्रहण किया । प्रहरियों का सम्वाद ग्रीक नाट्य शैली की याद दिलाता है । इसमें पर्याप्त रंगसंकेत दिया गया है - जो अभिनय केलिए उपयुक्त है । इन रंग संकेतों से पात्रों की उद्विग्न मनःस्थितियों, चेष्टाओं और भावभंगिमाओं को समझा जा सकता है । इसकी भाषा कहीं कहीं क्लिष्ट अवश्य है किन्तु है व्यावहारिक से सम्पुष्ट ।

"अंधायुग" का मंचीय प्रस्तुतीकरण कई स्थानों पर सफलतापूर्वक हुआ है । "अलकाजी ने 1963 में फिरोज़शाह कोटला के ऐतिहासिक खण्डहरों में मुक्ताकाशी विशाल मंच पर "अंधायुग" को एक नया आयाम प्रदान किया । इस प्रस्तुतीकरण में लोक-नाट्य पद्धति के प्रदर्शन तत्वों तथा शास्त्रीय-साहित्यिक रंगमंच की रूढियों का सर्जनात्मक उपयोग किया गया था ।"[1] इसके बाद भारत के छोटे-बडे नगरों में इसके अनेक प्रदर्शन हुए हैं । इसने दर्शकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है - "अंधायुग" को देखकर उन्हें {दर्शकों को} एक बारगी लगा कि आज का नाटक मनोरंजन नहीं जीवन है । ऐसे मनुष्य का जीवन, जो अपनी ही सभ्यता की विभीषिका में फंसकर निहायत असहाय, बेबस, लाचार और लुंज-पुंज बनकर तृतीय पुरुष जैसा जी रहा है । नाटक ने दर्शकों की अछूती चेतना को गहरे स्तरों तक झकझोरा । उन्होंने महसूस किया कि अंधायुग आदमी की क्रूर प्रतिभा और निर्दय महत्वाकांक्षा द्वारा पैदा की गयी ऐसी सभ्यता के त्रास को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिसे मानवता ने गिडगिडाती असमर्थता के साथ महाभारत के युग में झेला था ।"[2] इन बातें से स्पष्ट है कि अंधायुग अभिनेयता की दृष्टि से उच्च कोटि की रचना है ।

---

1. अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य प्रयोग - जयदेव तनेजा - पृ: 92.
2. दिनमान 20 जनवरी 1974, पृ: 37.

सुरेन्द्र वर्मा

अधुनातन नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा का महत्वपूर्ण स्था है । कोमल एवं जटिल मनः स्थितियों को नाटकीय रूप देने में वे समर्थ हैं । उनका वस्तु क्षेत्र एकदम नया और अछूता है ।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक रंगमंचीय संभावनाओं से समृद्ध है । उन्होंने अपने नाटकों में सामयिक युग की समस्याओं को ऐतिहासिक-पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से मुखरित करने का प्रयास किया है । उनके नाट्य-शिल्प और नाट्य-भाषा गहरे रंगानुभव का प्रत्यक्ष प्रमाण है । "उनके नाटक पश्चिम से आवश्यक प्रभाव ग्रहण करते हुए अपनी परंपरा का पुनर्मूल्यांकन करते हैं ।[1] राकेश की भाँति उन्होंने यथार्थवादी रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटकों की रचना की है । परन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनका नाटक खुली रंगशैली और कल्पना से परिपूर्ण है ।

"सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" आठवाँ सर्ग और "द्रौपदी" उनके नाटकों में प्रमुख हैं ।

सूय की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

यह नाटक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर नया दृष्टिकोण व्यक्त करता है । इसमें काम सम्बधों के चित्रण के साथ साथ शासक और शासन तंत्र का चित्रण भी है । अतीत की पृष्ठ-भूमि पर यौन सम्बधों में आये परिवर्तन को व्यक्त करना ही नाटककार का उद्देश्य है । इसकेलिए उन्होंने आक्कोक और शीलवती की तनावपूर्ण कथा को अपनाया है ।

---

1. सुरेन्द्रवर्मा के नाटकों में रंगमंचीयता - देवेन्द्रकुमार गुप्ता - पृः 50.

रंगमंच की दृष्टि से "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक" सफल है । नाटक तीन अंकों में विभाजित है जिसमें सूर्यास्त, रात्रि का विभिन्न पहर और सूर्योदय के समय को एक दृश्य में बाँध दिया गया है । इसकी दृश्य योजना की प्रमुख विशेषता यह है कि एक ही दृश्य बंध पर तीन अंकों में विभाजित कथावस्तु के क्रिया व्यापारों को असानी से प्रस्तुत किया जा सकता है । इसके दृश्यबंध के सम्बध में जयदेव तनेजा लिखते हैं - "नाटककार ने दृश्यबंध को पर्याप्त लचीला बनाकर ओक्काक तथा महत्तरिका और प्रतोष तथा शीलवती के समानान्तर चलते दृश्यों को उनके पूरे वैषम्य और नाट्य वैभव के साथ कलात्मकता से प्रस्तुत किया है ।"[1]

नाटक में प्रयुक्त प्रकाशन्यवस्था दृश्य सज्जा केलिए उपयुक्त है । दृश्यबंध में नाटककार की कुशलता दूसरे अंक में भी प्रकट होती है । यहाँ पतोष के शयनकक्ष का काम राजप्रासाद में रखे शयन कक्ष से ही किया गया है । दृश्य परिवर्तन मात्र प्रकाश व्यवस्था से पूर्ण कर लिया गया है ।

"सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक के कथानक में संघर्ष और द्वन्द्व को बनाये रखने में नाटककार को सफलता मिली है । यह नाटक की रंगमंचीय सफलता केलिए उपयुक्त है । नाटक में घटनाएँ नहीं हैं, मात्र कुछ स्थितियं हैं और उन स्थितियों में घिरे ओक्काक और शीलवती की आन्तरिक द्वन्द्वमय मनःस्थितियों का आकलन है । नाटक के प्रतीक अपेक्षाकृत सरल हैं । ओक्कांक का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करने केलिए मदिरापान का रंग-प्रतीक बहुत बार प्रयुक्त हुआ है । विशेष रूप से दूसरे अंक में बार-बार मदिरा कोष्ठ की ओर जाना, चषक भरना, घूँट घूँट पीना अव्यवस्थित मनःस्थिति को ही उभारता है । पक्षी की ध्वनि भी ओक्काक की अकुलाहट को व्यक्त करती है ।

---

1. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच-जलदेव तनेजा - पृः 17.

इसकी भाषा मात्र शब्दों की भाषा न होकर नाटकीय व्यापार की भाषा है । काम सम्बधों को चित्रित करते हुए भी यह कहीं भी अश्लील नहीं हुई है । शब्दों के चुनाव में नाटककार सजग दिखाई देता है । नाटकीय अयरनी को शब्दों के प्रयोग से उभारा है । पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप भाषा में कोमलता, विद्रोह या द्वन्द्व प्रतिबिंबित है ।

आठवाँ सर्ग

"आठवाँ सग" प्रयोग की दृष्टि से नवीन है । यह कालिदास के "कुमारसंभव" महाकाव्य के आठवाँ सर्ग को आधार बनाकर लिखा गया है । नाटक पति-पत्नी के आत्मीय अन्तरंग सम्बधों को सूक्ष्मता और गहराई के साथ चित्रित करता है । कुमारसंभव के आठवाँ सर्ग में चित्रित शिव-पार्वती के उत्तेजक कामसम्बधों के भीतर से काव्य के सौन्दर्य में श्लीलता अश्लीलता के प्रश्न उठते हैं । इसके साथ ही साथ कवि के अभिव्यक्ति स्वतंत्र्य अथवा राजाश्रय की माँगों के साथ लेखक के समझौता करने या न कर पाने के प्रश्न भी उठते हैं ।

नाटक का रचना विधान "आषाढ का एक दिन" के समान लगता है । पहले और तीसरे अंक में दृश्य विधान एक सी है । पहले अंक में कालिदास को सम्मान मिलने का उत्सव और कामोत्सव का दृश्य है । तीसरे अंक में वही परिस्थितियाँ दिखा कर नाटकीय चमत्कार व्यक्त करने का प्रयास है ।

"आठवाँ सग" की रंगमंचीयता का एक और धरातल उसकी भाषा है । राकेश ने जिस रंगभाषा का निर्माण किया था, जिस में अतीत की गरिमा के साथ सहज प्रवाह और गहन संप्रेषणीयता थी, उसी भाषा को सुरेन्द्रवर्मा ने अभिव्यजना शक्ति प्रदान की ।

उद्देश्य की दृष्टि से "आठवाँ सर्ग" सफल है । "नाटककार ने कालिदास युगीन परिवेश के सन्दर्भ में आधुनिक साहित्यकार और उसके लेखन स्वातंत्र्य पर सत्ता द्वारा अंकुश लगाने के प्रश्न को उठाया है ।"[1] धर्माध्यक्षों के द्वारा किये गये अपमान और राजनीतिक दबाब के कारण कालिदास को "आठवाँ सर्ग" अधूरा छोडना पडता है । यही स्थिति समकालीन साहित्यकार को भी है । वस्तुतः कालिदास की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की पीडा आज के उस साहित्यकार की पीडा है जो स्वतंत्र साहित्यिक रचना में विश्वास करता है । इस नाटक के जरिए सुरेन्द्रवर्मा ने लेखकीय स्वतंत्रता और राज्याश्रय से सम्बधित साहित्यकारों की समस्याओं के आगे एक प्रश्न चिह्न लगाया है । निष्कर्ष यह है के "आठवाँ सर्ग" कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से सफल है । आधुनिक रंगमंच केलिए एक नवीन उपलब्धि है यह नाटक ।

द्रौपदी

द्रौपदी सुरेन्द्रवर्मा के समाजिक जीवन की पहचान और पकड का परिचायक है । इसमें वैज्ञानिक युग के अभिशप्त जीवन को नाटकीयता देने का प्रयास है । मिथक पर आधारित इस नाटक में आज के व्यक्ति के विखंडित व्यक्तित्व की झलक दिखाई पडती है ।

रंगमंच की दृष्टि से द्रौपदी की महत्वपूर्ण भूमिका है । दौपदी के मिथक का नये सन्दर्भ में उपयोग रंगमंच की दृष्टि से एक सार्थक प्रयोग है । "इसमें प्रकाश व्यवस्था के उपयोग से नाटकीय वस्तु को अनेक स्तरों पर अनेक आयामों में आंका है ।"[2] द्रौपदी यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं को तोडकर एक नयी रंगदिशा का भारतीय सन्दर्भों में उपयोग है ।[3]

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - डॉ. शेखर शर्मा - पृ: 256.
2. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में - पृ: 201.
3. वही - पृ: 202.

यह नाटक अधुनातन पाश्चात्य रंगमंचीय टेक्नीकों जैसे स्मृत्यावलोकन, बार बार आलोक वृत्तों के माध्यम से कार्य-स्थल और कार्य की दिशा बदलना, अयाथार्थ और काल्पनिक रंगयुक्तियों के माध्यम से सूक्ष्म जटिल मानवीय सत्यों का उद्घाटन आदि के द्वारा समकालीन हिन्दी रंगमंच केलिए कई नयी प्रयोग दिशाएँ खोलता है ।

द्रौपदी की भाषा आधुनिक त्रासद जीवन स्थितियों को प्रकट करने में समर्थ है । आज की बोलचाल की भाषा होने पर भी वह सूक्ष्म मानसिक जटिलताओं का संप्रेषण बडी सामर्थ्य के साथ करती है । हिन्दी नाटकों में काम-सम्बधों की ऐसी खुली अभिव्यक्ति "द्रौपदी" में पहली बार हुई है किन्तु नाटककार ने कहीं भी अश्लीलता नहीं आने दी । सारे नाटक में भाषा की एक अदम्य शक्ति के दर्शन होते हैं ।

द्रौपदी के अध्ययन से ऐसा लगता है कि संवेदना के स्तर पर सुरेन्द्रवर्मा "आधे-अधूरे" से अधिक प्रभावित हैं । माँ और बेटी की बात्तें परिवार के आन्तरिक जीवन का उद्घाटन करती हैं । बेटी एक्स्ट्रा क्लास के बहाने प्रेमी के साथ पिक्चर जाना चाहती है । अनिल "आधे अधूरे" के अशोक को याद दिलाता है ।

द्रौपदी समकालीन दृश्यबंध का दो अंकीय नाटक है । इसकी रंग परिकल्पना आधुनिक एवं नवीन है । हिन्दी रंगमंच की विकास यात्रा में इसका महत्वपूर्ण योगदान है । राकेश के आधे-अधूरे के बाद द्रौपदी ही समकालीन नाट्य-प्रयोगों में महत्वपूर्ण कृति है ।

रमेश बक्षी

देवयानी का कहना

अधुनातन दृष्टि से स्त्री-पुरुष सम्बधों को परखनेवाला मौलिक नाटक है रमेश बक्षी का "देवयानी का कहना" । इसमें साधन और देवयानी के माध्यम से नाटककार आज के युग में स्त्री पुरुष सम्बधों में पुनरान्वेषण की आवश्यकता व्यक्त करता है । यह नाटक विवाह सम्बधी रूढ मान्यताओं के प्रति एक आक्रोश है प्रकट करता है । साथ ही साथ आज के विवाह की रीति पर एक व्यग्य भी । विवाह की रीति में आये परिवर्तन को नाटककार इन शब्दों में व्यक्त करता है - "जिस दिन बादशाँह ने चमडे के सिकते चलाये, उस दिन बादशाह मर गया और जब से मंदिर में जाकर पटेडिया और शकुन्तला जैसे लोग माला बदलकर पति-पत्नी बनने लगे, विवाह नाम की संस्था मर चुकी है ।"[1]

देवयानी आधुनिक युग की शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नारी है । वह साधन के साथ विवाहित होकर नहीं रहना चाहती, वरन् स्वतंत्र यौन सम्बधों के रिश्ते से रहना चाहती है । वह किसी एक व्यक्ति के साथ बंधकर जीना नहीं चाहती । विवाह के सम्बध में वह अपना मत यों प्रकट करती है - "दुल्हे के पीछे चलती हुई दुलहिन बुलडोज़र से बधी एक टैक्सी ने लगे जिसका बम्बर टूट गया हो ।"[2] वह साधन के साथ अपने सम्बध को प्रेम न कहकर बारगेनिंग का नाम देती है । देवयानी विवाह का समर्थन इसीलिए करती है कि - "अविवाहित बिस्तरबाजी में खर्च अधिक है डर ज़्यादा है ।"[3] लेकिन साधन की दृष्टि अलग है

---

1. देवयानी का कहना है - रमेश बक्षी - पृ: 71.
2. वही ।
3. वही - पृ: 23.

वह विवाह को "प्रतिबद्धता, समझौता, एडजस्टमेंट और एक दूसरे को समझना मानता है ।"[1] साधन परंपरावादी है । वह स्त्री से वही अपेक्षा करता है जो युग-युगों से पुरुष नारी से करता आया है । साधन और देवयानी का कल्पित विवाह जीवन तीन दिन तक जारी रहा । तीसरे दिन देवयानी जैसे आयी थी वैसे ही चली जाती है । नाटक की देवयानी महाभारत की देवयानी की तरह हठी एवं जिद्दी है । वह अपना रास्ता स्वयं चुन लेना चाहती है ।

रमेश बक्षी ने इस नाटक केलिए यथार्थवादी रंगमंच को अपनाया है । यद्यपि नाटक अंकों में विभाजित नहीं है तो भी तीन दिन की घटना को तीन खण्डों में बाँटा है नाटक को रंगमंचीय विशेषता उसके कथ्य और भाषा में है काम सम्बधों को सुरेन्द्र वर्मा ने भी अपने नाटकों में उठाया है किन्तु उसकी भाषा बहुत संयत, प्रभावशाली, सन्तुलित तथा सक्षम है । लेकिन बक्षी ने कथ्य के नगेपन के अनुरूप नंगी भाषा का प्रयोग किया है । दर्शक ऐसे भाषा प्रयोगों से चौंकता है । नाटक में देवयानी का चरित्र कहीं कहीं अविश्वसनीय लगता है । उसमें स्वतंत्र जीवन जीनेवा आधुनिक नारी की झलक नहीं दिखायी पडती ।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि अधुनातन हिन्दी नाटक और रंगमंच में पिछले सात दशकों से रंकसंस्कार तथा रंगचेतना का कलात्मक ढंग से विकास हुआ है । इस विकास यात्रा में भारतेन्दु, प्रसाद, जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती, सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, हमीदुल्ला, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे नाटककारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । नाट्य प्रदर्शन में बढती हुई रुचि के कारण नवीन रंगानुभव हो रहा है । आधुनिक भावों, विचारों,

---

1. देवयानी का कहना - रमेश बक्षी - पृः 23.

आवेगों एवं स्थितियों को तीखी चेतना के साथ आज का रंगमंच प्रस्तुतीकरण दे रहा है । पाश्चात्य नाटक तथा रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए तथा अंधानुकरण की प्रवृत्ति को रोकते हुए हिन्दी रंगमंच आगे बढ रहा है । पारसी रंगशैली के दोषों तथा पाश्चात्य जगत के यथार्थवादी रंगमंच से विमुख अब हिन्दी रंगमंच प्रतीकात्मक एवं काव्यात्मक स्थितियों से फूल-फल रहा है । आज भारतीय रंगमंच की परंपरागत अवधारणाओं को एक विस्तृत रंगदृष्टि के अर्थ में अन्वेषित किया जा रहा है ।

आज हिन्दी का अपना संपन्न रंगमंच है । कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नये नये प्रयोग हो रहे हैं । प्रतिभाशाली निर्देशकगण तथा अभिनेता रंगकर्म के प्रति पूरी तरह समर्पित है । निश्चय ही हिन्दी रंगमंच का भविष्य उज्वल रहेगा ।

उपसंहार

साहित्य की निरंतर विकासमान विधाओं में नाटक का सर्वोच्च स्थान है । नयी नयी विचारधाराएँ और दृष्टिकोण जितनी समग्रता के साथ नाट्य में प्रतिध्वनित होते हैं, अन्य विधाओं में नहीं । वर्तमान युग के साहित्य में जीवन की जटिलताएँ और विषमताएं बडी प्रखरता के साथ अभिव्यक्ति पाती हैं । अतः आधुनिक नाटक आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब विधायक कहा जा सकता है । प्रस्तुत शोध प्रबंध में उक्त प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । हो सकता है, हमने जिनका विवेचन किया है, उनके अतिरिक्त भी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हों । पर वे स्पष्ट परिलक्षित नहीं होतीं । अतएव हमने ऊपर के सात अध्यायों में अत्यन्त प्रबल दिखाई देनेवाली सभी स्पष्ट प्रवृत्तियों का वस्तुन्मुखी विश्लेषण किया है ।

प्रथम अध्याय में हिन्दी नाट्य साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है । समग्र आधुनिक नाटक एक विकासशील प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है । इसीलिए परंपरा के साथ उसको जोडना और जो सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक शक्तियाँ उसके रूपायन में सहायक रहीं उनका निरूपण परम आवश्यक है । अद्यावधि लेखकों ने केवल ऐतिहासिक विकास की ही मुख्यतया चर्चा की है । परन्तु हम ने यह दिखाया है कि ऐतिहासिक शक्तियाँ किस प्रकार नवीन प्रवृत्तियों के उत्थान में सहायक होती हैं । यह केवल भारतेन्दु के ही सम्बध में नहीं जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे ख्यातिप्राप्त नाटककारों के सम्बध में भी लागू होता है ।

द्वितीय अध्याय में युग की विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । वास्तव में युग ही ऐसी शक्ति है जो नवीनता के मूल में क्रियाशील रहती है । युग चेतना ही साहित्य में विशेषकर नाटक में साकार हो उठती है । इसीलिए युग चेतना के वैज्ञानिक विश्लेषण के बिना कोई भी अध्ययन सार्थक नहीं हो सकता । अतः हम ने प्रस्तुत अध्याय में नानायुगीन प्रवृत्तियों का बडे विस्तार के साथ वैज्ञानिक विश्लेषण किया है ।

आज विसंगतिबोध एक सार्वभौम प्रवृत्ति है जो आधुनिक युग में बडा ही भीषण रूप धारण कर चुकी है । यद्यपि साहित्य में विसंगति बोध बहुत समय से प्रतिबिंबित दिखाई देता था तथापि उसकी व्यापक अभिव्यक्ति मुख्य रूप से विश्व युद्धोत्तर साहित्य में ही पायी जाती है । महायुद्ध के परिणाम स्वरूप जीवनमूल्यों में जो परिवर्तन हुए उनकी प्रेरणा से विसंगत नाटक अस्तित्व में आये । यूज़ीन अयनेस्को, सैमुअल बैकेट, हेराल्ड पिंटर आदि शीर्षस्थ पश्चिमी नाटककारों ने इस परंपरा को महत्वपूर्ण बना दिया है ।

आज मानव, चाहे जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करता है, विसंगति बोध का शिकार है । हमने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में स्थापित किया है कि वर्तमान जीवन में जो मूल्य च्युति छा गयी है उसी का परिणाम है विसंगतिबोध हिन्दी के अधुनातन नाटककारों के दर्जनों नाटकों के असंख्य पात्रों के व्यापारों और उक्तियों के आधार पर यह स्थापित किया गया है कि विसंगतिबोध वर्तमान साहित्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है । विसंगतिबोध को कुछ लोग सिर्फ पश्चिम की देन मानते हैं परन्तु हमारी स्थापना यह है कि वह केवल पश्चिम के अन्धानुकरण का परिणाम नहीं है, भारतीय परिस्थिति की सहज उपज है ।

एक और सशक्त प्रवृत्ति जो आधुनिक नाटकों में हमने लक्षित की है वह है स्त्री-पुरुष सम्बधों का नया शैथिल्य अथवा विघटन । चौथे अध्याय में इसका विश्लेषण है । आधुनिक युग में इनसान के नाते-रिश्ते शिथिल हो गये हैं । वैज्ञानिक उन्नति और नागरिक जीवन की यांत्रिकता के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष सम्बधों में अतृप्ति, कलह, स्वार्थलिप्सा असन्तोष आदि प्रकट होने लगे हैं । हमारा समाज ही इतना प्रश्न संकुल है कि उसमें व्यक्ति अपने जीवन के सहज स्वप्नों को सार्थक बनाने में सफल नहीं होता । इसीलिए स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बधों में जो प्रेम और समर्पण की भावना पहले वर्तमान थी वह आज नहीं रह गयी है । अतः पति-पत्नी का जीवन विशेष कर नगरों में केवल दिखावा मात्र रह गया है । उसका सम्बध मुख्यतया सेक्स पर अवलंबित हो गया है । मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्रवर्मा, रमेशबक्षी आदि के नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बधों की इसी शिथिलता का जो अंकन हुआ है, हमने प्रथम बार उसका यथावत् विश्लेषण किया है । अब तक के अध्येताओं ने इस प्रकार की विषम परिस्थितियों का कारण केवल आर्थिक ही सिद्ध किया है । हमारा निष्कर्ष यह है कि इसका सिर्फ एक ही हेतु नहीं है । मनुष्य का पार्थिव जीवन अवश्य अर्थाधिष्ठित है । पर अर्थ ही सबकुछ नहीं है । भौतिकी जीवन की समृद्धि मात्र से मानव चैन नहीं पा सकता । उसकी असंख्य आंतरिक आवश्यकताएँ हैं जो अर्थ मात्र से पूरी नहीं हो सकतीं । उसकी चेतना कुछ और चाहती । उस "और" की अप्राप्ति ही उसकी अतृप्ति और विह्वलता का कारण है । हम ने अपने अध्ययन में स्थापित यही किया है ।

वर्तमान युग में व्याप्त एक और गहरी विपत्ति है भ्रष्टाचार । आज के जीवन का कोई भी क्षेत्र उस से मुक्त नहीं है । इसका विश्लेषण हमने पाँचवें अध्याय में किया है । चाहे सामाजिक हो या राजनैतिक, धार्मिक हो अथवा सांस्कृतिक, सर्वत्र मूल्यच्युति और भ्रष्टाचार छा गया है । समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण करने केलिए हिन्दी नाटककारों ने अपना अपना तरीका

उपनाया है । कुछ नाटककारों ने प्रतीकों के माध्यम से और कुछों ने मिथक के सहारे इसका आकलन किया है । जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, सुशील कुमार सिंह, मुद्रा राक्षस, शंकरशेष प्रभृति नाटककारों के प्रतिनिधि नाटकों के विश्लेषण से हम ने स्थापित किया है कि भ्रष्टाचार का विकराल रूप सिर्फ आधुनिक युग की देन है । पुराने युगों में भ्रष्टाचार अवश्य थे, पर वे न तो इतने विकराल थे और न इतने व्यापक ।

इतिहास-पुराण या मिथक का नया भावबोध आधुनिक हिन्दी नाटक की एक प्रस्पष्ट प्रवृत्ति है । इतिहास या पुराण एक राष्ट्र की अपनी बपौती है । इसमें राष्ट्र का अतीत सोया हुआ है । वस्तुतः मनुष्य अनजाने अपने समाज और जाति की परंपराओं को आत्मसात किये रहता है । उसमें समाज और जाति की स्मृतियाँ बडी गहराई से अंकित होती हैं । इन स्मृतियों के माध्यम से आधुनिक प्रसंगों का विश्लेषण अधिक प्रभावी और सार्थक सिद्ध होता है । आधुनिक युग में अनेक प्रतिभावान नाटककारों और कवियों का ध्यान इतिहास-पुराण या मिथक के प्रसंगों की ओर गया है । हिन्दी नाटकों में विशेषकर 1950 के बाद लिखे गये प्रमुख नाटकों में यह प्रवृत्ति प्रकट होती है । जगदीशचन्द्र माथुर का "कोणार्क", "पहला राजा" धर्मवीर भारती का "अंधायुग", दुष्यन्तकुमार का "एक कंठ विषपाई" लक्ष्मीनारायण लाल का "मिस्टर अभिमन्यु, रमेश बक्षी का "देवयानी का कहना है" आदि का वैज्ञानिक विश्लेषण हमने इस सिलसिले में किया है । इन नाटकों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहूँचे हैं कि यह प्रवृत्ति लेखकों की अंतर्मुखी तथा अभिमुखी खोज का परिणाम है ।

नाट्य साहित्य का विश्लेषण रंगमंच के अध्ययन के बिना अधूरा रहता है क्यों कि नाट्य मूलतः प्रयोग या मंचन की वस्तु है । इसीलिए हमने सातवें अध्याय में अतीत का विस्मरण किए बिना अधुनातन रंगमंचीय प्रवृत्तियों का अलोचनात्मक विश्लेषण किया है । यह एक अनिषेध्य सत्य है कि नाटक और

रंगमंच एक दूसरे के पूरक हैं । एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं । नाटक की अभिव्यक्ति रंगमंच के माध्यम से होती है । इसीलिए दोनों का साथ साथ चलना ज़रूरी है । आधुनिक हिन्दी रंगमंच केवल एक परंपरा का पालन नहीं वरन् विभिन्न परंपराओं का समन्वय है । इसकी विकास यात्रा में भारतेन्दु, प्रसाद, मिश्र जैसे नाटककारों का महान योगदान अवश्य रहा है । पर अधुनातन नाटककारों में राकेश, लाल, धर्मवीर भारती, मुद्राराक्षस, सुरेन्द्रवर्मा आदि का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है । उनका नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है । आधुनिक भावों, विचारों, आवेगों एवं स्थितियों को तीखी चेतना के साथ आज का रंगमंच प्रस्तुति दे रहा है । पाश्चात्य नाटक तथा रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए तथा अन्धानुकरण को प्रवृत्ति को रोकते हुए हिन्दी रंगमंच आगे बढ रहा है ।

आज का हिन्दी रंगमंच बहुत ही समृद्ध है । कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नाट्य क्षेत्र में नये नये प्रयोग हो रहे हैं । प्रतिभाशाली निर्देशकगण तथा अभिनेता रंगकर्म के प्रति पूरी तरह समर्पित हैं । इस अध्याय में हमारी स्थापना यह है कि अधुनातन हिन्दी रंगमंच में सिर्फ एक परंपरा का नहीं, विभिन्न परंपराओं का पालन है ।

अन्तः यही निवेदन है कि हमारे सारे निष्कर्ष ठोस प्रमाणों पर आधारित हैं, अध्ययन विश्लेषणात्मक और स्थापनाएं समन्वयात्मक ।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

हिन्दी

1. अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य साहित्य – जयदेव तनेजा
नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली-110055
प्र. सं. 1981.

2. अंधायुग की रचना मानसिकता – सुरेश वीणा गौतम
सहयोग प्रकाशन, मयूरविहार,
दिल्ली-110091, प्र. सं. 1990.

3. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि – सुरेश गौतम,
साहित्य प्रकाशन, मालीवाड,
दिल्ली - 110006 - 1976.

4. असंगत नाटक और रंगमंच – नरनारायणराय,
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1981.

5. अधूरेपन का एहसास – डॉ. मोहन
केरला हिन्दी साहित्य मंडल,
कोचिन-16, प्र. सं. 1984.

6. आधुनिकता के पहलू – डॉ. इन्द्रनाथ मदान
लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद
सं. 1972.

7. आधुनिकता और हिन्दी एकांकी – माखनलाल शर्मा
प्रवीण शर्मा, शब्द और शब्द
अशोक विहार – दिल्ली-11 0052
प्र. सं. वर्ष नहीं

8. आधुनिक हिन्दी नाटक – डॉ. नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हउस
नई दिल्ली, नवीन सं. 1970.

9. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक – डॉ. श्याम शर्मा
अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली-2
प्र. सं. 1978.

10. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ. ऊर्मिला मिश्र
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

11. आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम – डॉ. लक्ष्मीराय
तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली, प्र.सं. 1979.

12. आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव – डॉ. दशरथ ओझा
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6,
प्र. सं. 1984.

13. आधुनिक नाटक का पसीहा मोहन राकेश – गोविन्द चातक
इन्द्र प्रस्थ प्रकाशन
दिल्ली-51, प्र. सं. 1978.

14. आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक	–	डॉ॰ माधव सोनटक्के संचयन, कानपुर-6, प्र॰ सं॰ 1988.
15. एकांकी और एकांकीकार	–	रामचरण महेन्द्र वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र॰ सं॰ 1989.
16. कृतिकार लक्ष्मी नारायण लाल	–	सम्पादक डॉ॰ रघुवंश लिपि प्रकाशन, अनसरी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-2.
17. छायावादोत्तर हिन्दी कविता प्रमुख प्रवृत्तियाँ	–	त्रिलोचन पाँडेय कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल ग्वालियर पुस्तकालय संस्करण।
18. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास	–	डॉ॰ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय राज पाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र॰ सं॰ 1973.
19. नयी कहानी की भूमिका	–	कमलेश्वर शब्दकार, दिल्ली, प्र॰सं॰ 1978.
20. नाटककार अश्क	–	जगदीश चन्द्र माथुर, नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद

21. नाटककार जगदीश चन्द्रमाथुर - गोविन्द चातक
राधा कृष्ण प्रकाशन, दरिया गंज,
दिल्ली - 110 006 - 1973.

22. नाटककार मोहन राकेश - सुन्दर लाल कथूरिया
कुमार प्रकाशन, दिल्ली - 110015
प्र. सं. 1974.

23. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल - नरनारायणराय
की नाट्य साधना सन्मार्ग प्रकाशन 16 यू.बी बैगलो रोड
दिल्ली-110007, प्र. सं. 1979.

24. प्रसाद नाट्य और रंग शिल्प - गोविन्द चातक
आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली - 1970.

25. प्रसाद के नाटक सर्जनात्मक - गोविन्द चातक
धरातल और भाषिक चेतना आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली,
प्र. सं. 1972.

26. प्रसादोत्तर कालीन नाटक - भूपेन्द्र कलसी
लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहबाद-1, प्र. सं. 1977.

27. बदलते परिप्रेक्ष्य - नेमी चन्द्र जैन
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - 1968.

28. बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक – ओम प्रकाश सारस्वत
मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक – 124001
प्र. सं. 1983.

29. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य नये सन्दर्भ – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
साहित्य भवन, इलाहबाद,
प्र. सं. 1966.

30. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाज शास्त्रीय अध्ययन – डॉ. लजपतराय गुप्ता
कल्पना प्रकाशन, 7, कबाडी बज़ार
मेरठ कैण्ट – 250001.
प्र. सं. 1974.

31. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – ब्रजरत्न दास
हिन्दुस्थानी एकेडमी, इलाहबाद,
तृतीय सं. 1962.

32. भारतेन्दु का नाट्य साहित्य – डॉ. वीरेन्द्रकुमार शुक्ल
प्रयाग 1955.

33. भारतेन्दु के नाटक – डॉ. भानुदेव शुक्ल
नंद किशोर एण्ड सन्स वाराणसी, 1970.

34. भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग – ब्रजरत्न दास
राम नारायण लाल, इलाहबाद,
द्वितीय सं. 2008, विं.

35. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहबाद, द्वितीय सं. 1956.

36. भारतेन्दु युग — रामविलास शर्मा,
विद्या धाम, दिल्ली,
प्र. सं. 1955.

37. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन — गोपीनाथ तिवारी,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,
सं. 1971.

38. मानव मूल्य और साहित्य — धर्मवीर भारती
भारतीय ज्ञान पीठ - काशी
प्र. सं. 1960.

39. मिथक एक अनुशीलन — मालती सिंह
लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी
मार्ग, इलाहबाद, प्र. सं. 1988.

40. मोहन राकेश व्यक्तित्व एवं कृतित्व — डॉ. नानंद एम. शर्मा "जल्दी"
शान्ति प्रकाशन, आसन, 124421 {रोहतक}
{हरियाणा}, प्र. सं. 1990.

41. मोहन राकेश साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि — मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन,
दिल्ली, सं. 1975.

42. रंगमंच कला और दृष्टि – गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, 1976.

43. रंगमंच – बलवंत गार्गी
राजकमल प्रकाशन दिल्ली-6,
प्र. सं. 1968.

44. लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक और रंगमंच – दयाशंकर शुक्ल
पीतांबर पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली-5,
द्वि. सं. 1980.

45. राकेश के नाटकों में मिथक और यथार्थ – अनुपमा शर्मा
नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली-110055.
प्र. सं. 1980.

46. समकालीन हिन्दी नाटक चेतना के आयाम – सरला गुप्ता भूपेन्द्र
पंचशील प्रकाशन, चौडा रास्ता,
जयपुर - 302003, प्र. सं. 1987.

47. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक – डॉ. शेखर शर्मा,
भावना प्रकाशन, पटपड गंज,
दिल्ली-92, प्र. सं. 1988.

48. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक – डॉ. रमेश गौतम
नचिकेता प्रकाशन, पहाड गंज,
नई दिल्ली-110055, प्र. सं. 1979.

49. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच – जयदेव तनेजा
तक्षशिला प्रकाशन, नयी दिल्ली-2,
प्र. सं. 1978.

50. साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी – डॉ. किरण बाला अरोडा
अन्नपूर्णा प्रकाशन, सकित नगर,
कानपुर, प्र. सं. 1990.

51. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में स्त्री पुरूष सम्बध – डॉ. नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी
सारस्वत प्रकाशन, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058, प्र. सं. 1985.

52. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य – डॉ. महेन्द्र भटनागर,
नव भारती सहकार प्रकाशन प्रतिष्ठान
राणा प्रताप बाग - दिल्ली-6,
प्र. सं. 1969.

53. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक – रीता कुमार
विभु प्रकाशन, साहिबाबाद-5,
प्र. सं. 1980.

54. श्रृखंला की कडियाँ – महादेवी
भारती भण्डार, इलाहबाद ।

55. हिन्दी नाटक – डॉ. बच्चन सिंह
लोक भारती प्रकाशन,
इलाहबाद, 1967.

56. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास – दशरथ ओझा
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,
तृ. सं. 1961.

57. हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख – डॉ. इन्द्रनाथ मदान,
लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1975.

58. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल,
नगरी प्रचारिणी सभा, काशी,
सोलहवाँ सं. 2025 वि.

59. हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती – संपादक डॉ. नगेन्द्र,
विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,
प्र. सं. 1972.

60. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (एकादश भाग) – सावित्री सिन्हा, दशरथ ओझा, लक्ष्मी नारायण लाल, नागरी प्रचरिणी सभा, वाराणसी, सं. 2029 विं.

61. हिन्दी नाटकों को शिल्प विधि का विकास – डॉ. शान्ति मलिक
नेशनल पब्लिशिंग हउस, दिल्ली-6,
सं. 1971.

62. हिन्दी नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में – डॉ. सुषम बेदी
पराग प्रकाशन, दिल्ली-32,
प्र. सं. 1984.

63. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन – डॉ. गिरीश रस्तोगी, ग्रंथम, कानपुर-1, सं. 1967.

64. हिन्दी साहित्य विवेचन – योगेन्द्रनाथ शर्मा "मधुप" हिन्दी साहित्य भण्डार लखनउ, प्र. सं. कार्तिक पूजिमा-2018.

65. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ – डॉ. शाशीभूषण सिंहल विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1970.

66. हिन्दी नाटक प्राक्कथन और दिशाए – डॉ. विजयकान्तधर दुबे अनुभव प्रकाशन, कानपुर-208001, प्र. सं. 1986.

67. हिन्दी के समस्या नाटक – डॉ. विनयकुमार, नीलाभ प्रकाशन, प्र. सं. 1968.

68. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव – श्रीपति शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगर, प्र. सं. 1961.

69. हिन्दी रंग कर्म दशा और दिशा – जयदेव तनेजा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988.

70. हिन्दी नाटक कोश – डॉ. दशरथ ओझा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं. 1975.

71. हिन्दी नाटक में पात्र परिकल्पना- और चरित्र चित्रण — डॉ. सूरजकान्त शर्मा, एम. इ. एस. बुक कंपनी, दिल्ली-6, प्र. सं. 1973.

72. हिन्दी रंगमर्म दशा और दिशा - जयदेव तनेजा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली-2, प्र. सं. 1988.

अंग्रेज़ी

1. A Survey of French Literature - Morris Bishop, Harcourt, Brace and World Inc. 1965.

2. Encyclopedia of World Drama - Volume-I - A.D.

3. History of the Freedom Movement in India, Vol.III - R.C.Majumdar, Published by Firma K.L., Mukhopadhyay, 1963, Calcutta-12

4. Indian Literature since Independence - Sahitya Acadamy, New Delhi - 1973.

5. The Myth of Sisyphus - Albert Camus

6. The Theature of the Absurd - Martin Esslin, Penguine Books, Ltd. 1972.

नाटक-सूची

उपेन्द्रनाथ अश्क

1. अंजो दीदी – नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद, द्वि. सं. 1956
2. अलग अलग रास्ते – वही – पाँचवाँ सं. 1963.
3. कैद और उडान – वही – दूसरा सं. 1955.
4. छठा बेटा – वही – छठा सं. 1961.
5. जयपराजय – वही – 11वाँ सं. 1963.

जगदीश चन्द्र माथुर

6. कोणार्क – भारतीभण्डार इलाहबाद, तेइसवाँ सं. 1989.
7. पहला राजा – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-6, पाँचवाँ संस्करण, 1973.

जयशंकर प्रसाद

8. अजात शत्रु – भारती भण्डार इलाहबाद, 24 वाँ सं. 1970.
9. कामना – वही – 8 वाँ सं. 2025 वि.

11. जनमेजय का नागयज्ञ	-	भारती भण्डार, इलाहबाद, अष्टम सं. 2017 वि.
12. ध्रुव स्वामिनी	-	भारतीभण्डार, इलाहबाद, 22वाँ सं. 2016 विं.
13. राज्यश्री	-	भारती भण्डार, इलाहबाद, 22 वाँ सं. 2026 विं.
14. स्कन्दगुप्त	-	वही - 16 वाँ सं. 2014 विं.
15. विशाख	-	वही - 1966.

धर्मवीर भारती

16. अंधायुग	-	के. एम. एजनसीज़, प्रइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली-2, 1990.
17. सात गीत वर्ष	-	भारती ज्ञान पीठ, वाराणसी, प्र. सं. 1959.

दुष्यन्त कुमार

18. एन कंठ विषपाई	-	लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहबाद, प्र. सं. 1963.

मन्नु भण्डारी

19. बिना दीवारों के घर - अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं. 1976.

मुद्रा राक्षस

20. तिलचट्ठा - संभावना प्रकाशन हापुड प्र. सं. 1973.

21. मरजीवा - राजेश प्रकाशन, दिल्ली-51.

22. युअर्स फेथफुली - वही ।

मुक्तिबोध

23. चाँद का मुँह टेढा है, - भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, द्वितीय सं. 1965.

मोहन राकेश

24. आधे-अधूरे - राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-110002. छठी आवति, 1978.

25. आषाढ का एक दिन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली चौथा संस्करण, 1977.

26. पैर तले की ज़मीन – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय सं. 1977.

27. लहरों के राजहंस – वही ।

रमेश बक्षी

28. तीसरा हाथी – इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली-110051 द्वितीय संस्करण, 1979.

29. देवयानी का कहना है – वही ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

30. राक्षस का मंदिर – हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1958.

31. सिंदूर की होली – भारती भण्डार, इलाहबाद, 1963.

लक्ष्मीनारायण लाल

32. अब्दुल्ला दीवाना – लिपि प्रकाशन अंसारी रोड, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1984.

33. कर्फ्यू – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, दूसरा सं. 1976.

34. कलंकी – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं. 1969.

35. मादा कैक्टस – वही, 1976.

36. मिस्टर अभिमन्यु – वही, 1979.

37. रात-रानी – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र. सं. 1962.

38. सूर्यमुख – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977.

शंकर शेष

39. एक और द्रोणाचार्य – पराग प्रकाशन दिल्ली,-32, 1980.

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

40. बकरी – लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली 1977.

सुरेन्द्र वर्मा

41. आठवाँ सर्ग – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1976.

42. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1975.

सुशीलकुमार सिंह

45. सिंहासन खाली — निधि प्रकाशन, 1974.

हरिकृष्ण प्रेमी

44. शिवा साधना — हिन्दी भवन, जालंधर, 1961.

ज्ञानदेव अग्निहोत्री

45. शुतुर्मुर्ग — भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, वाराणसी ।

पत्रिकाएँ

— 20 जनवरी 1974.

2. धर्मयुग — 12 अगस्त 1967.

3. धर्मयुग — 17 दिसम्बर 1972.

4. नटरंग — खण्ड 5 अंक 20, जुलाई-सितम्बर 1972.

5. नटरंग — अंक 21, 1972.